लीक से हटकर

राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल

स्मृति प्रकाशन
इलाहाबाद

संस्करण : प्रथम, १९८९ ई०

प्रकाशक : स्मृति प्रकाशन
१२४, शहराराबाग
इलाहाबाद-२११००३

मुद्रक : वीना प्रिंटिंग प्रेस
३५९, नईबस्ती कीटगंज
इलाहाबाद

मूल्य : बीस रुपये मात्र

पूज्य माता व पिता को

सादर

सर्मपित

•

—राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल

मध्य प्रदेश शासन
भोपाल-४६२००४

मुख्य मंत्री

सन्देश

०

श्री राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल की कृति 'लीक से हटकर' को देखकर मुझे प्रेमचन्द जी का यह कथन स्मरण हो गया कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली सच्चाई की मशाल है। श्री शुक्ल मध्य प्रदेश में संसदीय जीवन के एक जागरूक एवं सशक्त स्वर है। उनकी राजनीतिक क्रियाशीलता, सैद्धान्तिक स्पष्टवादिता तथा कार्यशैली की स्वच्छता से मैं सदैव प्रभावित रहा हूँ किन्तु उनकी साहित्य-रचना निश्चित ही एक पृथक् उपलब्धि है।

इस कृति के कुछ निबन्धों को मुझे देखने का अवसर मिला। उनमे शुक्ल जी का प्रखर चिन्तन, मौलिक तार्किकता और रुचिकर प्रस्तुतीकरण स्पष्ट है। 'गाँव का दर्द', 'प्रजातंत्र कुछ प्रश्न कुछ चुनौती', 'वैधानिकता एवं नैतिकता', 'संसदीय कार्य पद्धति, कुछ विचार', 'धर्म, भगवान और आदमी' तथा 'नये संदर्भ में लेखक का दायित्व', आदि रचनाओं में वैचारिक ऊष्मा और अभिव्यक्ति की ऊर्जा है।

पुरानी पीढ़ी राष्ट्रकर्मियों एवं राजनीतिज्ञों मे साहित्य सृजन के प्रति अधिक लगाव था। राष्ट्रनिर्माता पण्डित जवाहरलाल नेहरू की कृतियाँ तो विश्व-साहित्य मे प्रख्यात हैं। हमारे प्रदेश में भी पण्डित माधवराव सप्रे, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', सेठ गोविन्ददास, पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी हस्तियाँ रही हैं। श्री शुक्ल जी इस परम्परा को समृद्ध करके आगे बढ़ायें, यही मेरी शुभाकांक्षा है। एक मित्र के नाते मैं उनसे और साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा करता हूँ।

दिसम्बर, १९८४

अर्जुन सिंह
मुख्यमंत्री
मध्य प्रदेश शासन

शुभाकांक्षा

•

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक दृष्टि से कहानी या उपन्यास की अपेक्षा निबंधों की संख्या कम है। कुछ वर्ष पूर्व मैंने एक नये लेखक के लिये शुभकामना सन्देश मे लिखा था "गद्य साहित्य के क्षेत्र में निबंध का वही स्थान है, जो पद्य साहित्य के क्षेत्र में दोहे का है।" ,कहा गया है :—

ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिट कूदि कढ़ि जांहि।

जिस प्रकार कोई नट एक लघुचक्र मे से अपने सारे शरीर का सन्तुलन करते हुए उसमे से परिधि को बिना छुए हुए निकल जाता है, उसी प्रकार एक निबंधकार अपने विषय को सीमाओं का विश्लेषण करते हुए एक लघु परिवेश में अपनी सारी बातें कह देता है। किसी भी निबंध-रचना में अभिव्यक्ति कौशल, एकाग्रता, चिन्तन और भावना का सम्मिलित सन्तुलित प्रतिबिम्ब होना चाहिये।

पिछले दिनों प्रयाग मे मेरे शिष्य एवं सहयोगी डा० गंगा नारायण त्रिपाठी (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बिलासपुर, म० प्र०) मुझसे मिलने आये। चर्चाओं के बीच मध्यप्रदेश के अंचल विशेष छत्तीसगढ़ का प्रसंग आया। इस अंचल से मेरा भावनात्मक संबंध रहा है। शैशव की देहरी पार करके मेरी तरुणाई के कुछ मधुर एवं मार्मिक क्षणों का अंकन यहीं हुआ था। मुझे लगा कि पं० माधव राव सप्रे, पं० लोचन प्रसाद पाडेय, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र और श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु की साहित्य-परंपरा इस अंचल मे पूरी तरह पुष्ट एवं विकसित नहीं हो सकी है। इसी संदर्भ मे डा० त्रिपाठी ने वहां के कुछ नवीन लेखकों का परिचय दिया। इस परिचय-शृंखला मे एक नया नाम सामने आया श्री राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल का।

श्री शुक्ल जी के कुछ निबंधो को पढकर मुझे हर्ष हुआ। इन रचनाओ में निश्चित रूप से चिन्तन की एक सशक्त पृष्ठभूमि है। इनमें मानवीय संवेदनाओं की लघु उर्मियां पाठक को आनंदित, प्रेरित एवं रसस्नात कराने मे सफल है।

यद्यपि लेखक के दृष्टिकोण में वैचारिकता की उष्मा अधिक है किन्तु उसके

संवेदनशील भावनापूर्ण अन्तरप्रवेश का रंग भी कई रचनाओं मे प्रखर है। संक्षेप मे, श्री शुक्ल के कुछ निबंध छत्तीसगढ़ लोक-जीवन की उल्लासप्रियता, मालव की भाव-संपन्नता, बुंदेलखंड की वीरोचित निर्भीकता एवं महाकोशल की सस्कारप्रियता के साथ साहित्य-देवता का अभिषेक करते हैं। किसी नव-परिणीता वधू के अवगुंठन को पार करती हुई सौन्दर्य रश्मियाँ जिस प्रकार वातावरण को रससिक्त एव जीवन्त कर देती हैं, उसी प्रकार इन निबंधों में लेखक का कवि हृदय विविध दृश्यों, परिदृश्यों में अपना अस्तित्वबोध करा देता है।

श्री शुक्ल जो मध्य प्रदेश के तेजस्वी एव स्वच्छ राजनीति कर्मियों में हैं। उनके व्यक्तित्व की यह शुभ्रता राजनीति की वर्तमान विकृति से अलग, लीक से हटकर है, इसीलिये प्रस्तुत कृति 'लीक से हटकर' न केवल नाम वरन् अपनी वैचारिक अवधारणा में भी सार्थक है।

राजनीति की मरुभूमि मे श्री शुक्ल की साहित्यिक रसधारा निरंतर प्रवाहित हो, यह मेरी कामना है। हिन्दी साहित्य के इस नये अंकुर के लिये मेरा आशीर्वाद है।

—डा० रामकुमार वर्मा

'साकेत'
प्रयाग स्ट्रीट
इलाहाबाद (उ० प्र०)

अनुक्रम





गाँवों का दर्द

जून सन् १९९२ में, मुझे भारतीय संसदीय शिष्ट-मण्डल के सदस्य के रूप में ग्रेट ब्रिटेन जाना पड़ा था। आक्सफोर्ड में कामनवेल्थ एजूकेशन इन्स्टीट्यूट के अंतर्गत एक कार्यक्रम था। भोज के समय मेरे मेजबान आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर थे। चर्चा में उन्होंने बताया कि ग्रेट ब्रिटेन में इस समय ९० लाख लोग बेकारी की समस्या से पीड़ित हैं, और यह बहुत बड़ी चिन्ता का विषय है। उन्होंने यह भी कहा कि इस शताब्दी की एक भीषण समस्या अति नगरीकरण है और इससे यथासंभव शीघ्र ही मुक्ति पा लेना मानव कल्याण की दृष्टि से बेहतर होगा। उन्होंने यह भी कहा कि वे इस समस्या के निराकरण हेतु भारतवर्ष के प्रति पूरी आशा लगाए हुए हैं क्योंकि यह महात्मा गांधी का देश है जिन्होंने अतिनगरीकरण व बेरोजगारी को दूर करने हेतु सम्पूर्ण जीवन-दर्शन दिया है, जिससे शोषण व विषमता समाप्त होकर शत प्रतिशत लोगों को रोजगार मिल सकता है तथा खुशहाली हो सकती है। उन्होंने यह भी जानना चाहा कि इस सम्बन्ध में भारत सरकार क्या कर रही है? आपके देश की सबसे बड़ी समस्या तो विराट जन-शक्ति का उपयोग करने की है। करोड़ो हाथों को काम देने से ही समस्या सुलझ सकती है। मैं मौन था, और अपने आप में विचार कर रहा था कि एक प्रोफेसर जो ८००० मील सागर पार विलायत में बैठा है अतिनगरीकरण से मानव को बचाना चाहता है तथा करोड़ो हाथों को काम देने के लिये विकेन्द्रित कुटीर उद्योगों को ही एकमात्र विकल्प मानता है, तथा दूसरी ओर भारत के एक दलबदलू मंत्री से अनायास भेंट हुई। उनके मिल के कपड़ों की ओर (जो वे पहने थे) ध्यान दिलाए जाने के बाद उन्होंने कहा कि भाई जब तक कांग्रेस में थे शरम लिहाज से खादी पहिनना पड़ता था, अब वैसी कोई बात नहीं रही और सच पूछिए तो स्वतन्त्र भारत में जब सब मिल देशी हैं तो मिल के कपड़े

पहिनने में क्या दोष है ? खैर, मैंने उनका जवाब मजाक में यह दिया कि जहर शत प्रतिशत देशी हो तो क्या आप उसे खाना पसन्द करेंगे ? इस उत्तर को सुनकर मंत्री जी चौंक अवश्य गए थे।

एक विद्वान ग्रामीण अर्थशास्त्री ने बताया कि बड़े उद्योग वाले गाँवों के साथ अन्यायपूर्वक पूर्वाग्रह युक्त विद्वेष की भावना रखते हैं। वे गाँवों में खेती के सिवाय और कुछ दूसरी चीजें देखना नही चाहते। उनका इरादा है कि गाँव के उद्योग फिर से जीवित न हो सकें और केन्द्रित उद्योगों के जरिए पूंजी उनके पास रहे, गाँव में न जावे। गाँव के बेरोजगार लोगों को यदि काम देना है तो खेती के लिए जमीन बाँटकर काम दिया जा सकता है अन्य रूप से नही। चाहे जंगल की जमीन निकालनी पड़े चाहे ऊसर व गोचर की जमीन हो, आखिर कितनी जमीन बाँटेंगे ? जमीन की एक सीमा है, उसे खींचकर बढ़ाया तो नहीं जा सकता है। जनसंख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारे देश की वर्तमान जनसंख्या ७० करोड़ के आसपास है। ४० करोड़ से भी ज्यादा लोग गरीबी की जीवन रेखा के नीचे का जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। वे अधनंगे व अधपेट हैं। भूमि की सीमा निर्धारण करने के बजाय सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण भी कर दे तो क्या समस्या हल होने वाली है ? देश में कुल मिलाकर कृषि-योग्य भूमि लगभग ३० करोड़ एकड़ है तथा वर्तमान में जनसंख्या ७० करोड़ है। प्रति व्यक्ति को आधे एकड़ भूमि भी इस हिसाब से नहीं पड़ती। नंगे को लंगोटी भी नहीं मिलेगी। लाभप्रद जोत की तो बात ही अलग है। जाहिर है बेरोजगारी निवारण व खुशहाली के लिये खेती के साथ-साथ बड़े पैमाने पर ग्रामोद्योगों को बढ़ावा देना होगा।

ग्रेट ब्रिटेन में ही सन् ७२ में मुझे लेबर पार्टी के एक एम० पी० श्री बेनयान के कृषि फार्म में जाने का अवसर मिला था। डा० जी० एस० ढिल्लो तथा श्री एस० एल० शंखधर भी हमारे साथ थे। उनका १४ हजार एकड़ का फार्म था। १२ हजार एकड़ में वे स्वयं खेती करते थे तथा ५०-५० एकड़ के फार्म बटाई में दिए गए थे। बटाईदारों से बात करने पर बताया गया कि यह ५० एकड़ भी अत्यन्त अलाभप्रद उनके लिये है। वे लाभप्रद खेती १५० एकड़ की मानते हैं।

सोवियत रूस में भी छोटे-छोटे फार्म हटाकर उनके स्थान पर बड़े फार्म स्थापित किये जा रहे हैं तथा अब तो कई स्थानों पर इंसेंटिव के नाम पर

व्यक्तिगत किसानों को भी जमीन दी जा रही है। अपने यहाँ भी ऊसर, जंगल वाली दो-दो एकड़ जमीन नंगे भूखे मजदूरों को बाँटकर दान का यश कमाया जा रहा है। इन भूमिहीनों को न तो बैल के लिए, न बीज के लिए, न साधन व सिंचाई के लिए धनराशि मुहैया कराई जाती है। सबसे बडी बात तो यह है कि भूमि समतलीकरण से लेकर उपज आने तक उस भूमिहीन मजदूर को अपने पास से खाना पड़ता है जो उसके लिए सम्भव नही होता है। रोज मजदूरी करना और उससे जीवनयापन करना यही उसकी नियति है। होना तो यह चाहिए कि उसे जीवनयापन हेतु भी पोषण अनुदान मिलता। शहरी उद्योगो के लिए अनुदान, लक्ष्मी-पुत्रों को सबसीडी और इन मजदूरों को भुखमरी। नतीजा होता है ये सुखवासी अपनी जरूरतों के लिए साहूकारों की शरण लेते हैं और समस्त बंटित भूमि साहूकारों के पास पुनः चली जाती है। यह तमाशा हो रहा है, ग्रामीण बेरोजगारों के साथ।

प्रश्न यह उठता है कि सहकारी क्षेत्र में भूमि व कृषि की व्यवस्था की जावे। विगत ५० वर्ष के अनुभव से तो लगता है कि सहकारी क्षेत्र का भगवान ही मालिक है। भूमिहीनों को ऋण की कोई सुविधा नही है। जमानत और अन्य आडम्बरों की भारी परेशानी है। सहकारी बैङ्क के कर्मचारियों के विरुद्ध फौजदारी मुकदमें इसलिए चल रहे हैं कि कुएँ के लिए ऋण लेकर उसका आधा पैसा उन्होंने ऋणियों से जबरन मार-पीटकर छीन लिया है। बिलासपुर के मुंगेली तहसील मे एक सहकारी कृषि सोसायटी है। बढ़िया ४०० एकड़ भूमि है। लेकिन उसकी स्थिति क्या है ? भूमिहीन भटक रहे हैं, भूमिवान उसके सदस्य हैं। घाटे का इतिहास बना हुआ है।

भूमिहीनों को भूमि बंटन का अच्छा खासा मजाक बिलासपुर जिले के एक सिंचाई बाँध मे देखने को मिलता है। डूब से बाहर आई प्रति वर्ष ८,९० हजार एकड़ जमीन भूमिहीनों मे नीलाम होती है। उनसे प्रीमियम लिया जाता है, जो अग्रिम जमा करना होता है। भील, बैगा व भूमिहीन आदिवासी एवं हरिजन यह राशि अपने टेंट से जमा कर सकने में असहाय रहते हैं। शासन इस दिशा में उनको आर्थिक सहायता पहुँचाने हेतु न केवल मौन रहता है वरन् बैल, बीज व साधन की सुविधा भी जुटाने की उसकी कोई योजना नही होती। परिणामस्वरूप सेठ-साहूकार व सरकारी अफसर सामने आते हैं। शिखण्डी रूपी भूमिहीनों को सामने रखकर प्रीमियम की अग्रिम राशि वे

जमा करते हैं। बीज, बैल, रख-रखाव, उर्वरक व कीटनाशक का प्रबन्ध करते हैं। भूमिहीन बेचारा वैसे का वैसा रहकर केवल मजदूरी प्राप्त करता है तथा वह भी पिछले कर्ज मे मुजरा कराता है तथा २०,००० क्विंटल गेहूँ की पर्सल व सैकड़ो मन तम्बाकू सेठ-साहूकार व सरकारी अफसर के घर पहुँचता है।

आजकल गांवों की खेती भी शहरी उद्योगपतियों के हाथों मे चली जा रही है। किसी भी बडे शहर व कस्बे के इर्द-गिर्द ५-१० मील जमीन का सर्वेक्षण कराया जावे तो ज्ञात होगा कि गत १५-२० साल में आधे से ज्यादा किसान भूमिहीन हो गये हैं और उनकी भूमि शहर के उद्योगपतियों के हाथों आ गई है। शिक्षा, चिकित्सा तथा जिन्दगी की अन्य जरूरतों के हाथो किसान विवश होकर अपनी जमीन बेच रहा है एवं १५-२० वर्ष पूर्व खोन्चा रखने वाला व्यापारी एक के बाद एक नये धन्धे प्रारम्भ कर लखपति और उद्योगपति बनता जा रहा है। मैंने पुराने जमाने के राजाओ और जमींदारो को भी देखा है जो अब गरीब हो रहे हैं तथा कर्ज आदि लेकर अपना काम चला रहे हैं। स्पष्ट है कि हमारी अर्थव्यवस्था कृषिमूलक एवं ग्रामोद्योग प्रधान न होकर बडे उद्योग एवं व्यवसाय प्रधान हो चुकी है। ये ही लोग राजनीति एवं प्रशासन मे अपना वर्चस्व स्थापित कर गांधी की मौखिक जय-जयकार करते हुए वास्तविकता मे गांधी की शव परीक्षा कर रहे हैं।

खेती के सम्बन्ध मे कृषि उपज मूल्य निर्धारण की पद्धति भी कृषक-विरोधी है। हमारे यहां ज्यादातर जमीन सूखी है, उसमें आंकड़ों के आधार पर पैदावार नही होती। सिंचित भूमि में भी जो उत्पादन होता है उसके मूल्य निर्धारण मे वैज्ञानिक पद्धति नही अपनाई जाती है। भूमि का घिसारा, श्रम का मूल्य, बैल, बीज, उर्वरक, कीटनाशक, बिजली, पानी आदि काटकर क्या किसान को लाभप्रद मूल्य दिया जाता है? नही। कहा जाता है कि उपभोक्ता को सस्ता अनाज मिले चाहे किसान का दिवाला क्यों न निकल जावे। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था किसान-विरोधी है। मिलो व मशीनो के उत्पादन का मूल्य निर्माता ठहराता है तथा कृषि उपज का मूल्य सरकार या व्यापारी ठहराते हैं। उपभोक्ताओ की ज्यादा चिंता है तो उन्हें प्राइस सबसीडी दीजिए। इसका भी भार बेचारे किसान के सिर क्यो मढ़ा जाता है? आए दिन जब अकाल पड़ता है, फसल खराब होती है तब तो उसे मुआवजा नहीं

दिया जाता । फसल बीमा भी नहीं कराया जा रहा है। मेरा तो यह भी सुझाव है कि लागत मूल्य का पता लगाने के लिए किसी किसान के खेत को देखने के बजाय किसी सरकारी फार्म का ही खर्च एवं उत्पादन का पता लगा लेना पर्याप्त होगा। यह भी तर्क दिया जाता है कि अनाज के दाम कम होने से सभी वस्तुओं के दाम कम हो जावेंगे। लेकिन हम देख रहे हैं कि धान और गेहूँ के भाव कम हैं पर जीवनोपयोगी अन्य वस्तुओं के दाम आसमान छू रहे हैं। यह भी विचारणीय है कि जब किसान अपना अनाज बेचता है तो बाजार भाव कम रहता है और वही माल जब उसके पास से निकल जाता है तो उसके भाव डेवढे व दुगने हो जाते हैं। यह भी शहरी अर्थव्यवस्था की विडम्बना है।

अपरोक्ष रूप से संभवतः एक राष्ट्रव्यापी षडयन्त्र अनजाने में ही ग्रामीण नेतृत्व के विरुद्ध चल रहा है। एकाधिकारवादी उद्योगपतियों व पूंजीवादियों का देश की राजनीति व प्रशासन मे, चाहे वह किसी भी राजनैतिक दल का क्यों न हो, पूरा दखल बना रहे, यह प्रयास इन लोगों का भारतवर्ष की आजादी के बाद से ही प्रारम्भ है। प्रयास यह है कि कृषिमूलक ग्रामोद्योग प्रधान ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्थापित न हो सके क्योंकि यदि ऐसा होता है तो एकाधिकारवादी पूंजीवाद समाप्त हो जावेगा। देश में पूंजी के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए पूंजी आवश्यक है, किन्तु विरोध है पूंजीवाद का। यह पूंजीवाद वह दानव है जो अंग्रेजी शासन के साथ भारत मे आया और लाखों करोड़ों ग्राम-शिल्पियों को उनके ग्रामोद्योगों से वंचित कर मशीनों और मिल उद्योगों के जरिये सारे देश मे विष वृक्ष के समान छा गया। हमारे देश का ग्रामीण शिल्प शताब्दियों से विश्व विख्यात रहा है। ढाका के किमख्वाब के मलमल और बनारसी साड़ियों का क्रेज विलायत के मेमों को इतना था कि उसे रोकने के लिए कानून और राजदण्ड से काम लेना पड़ा था। एक अँगूठी के भीतर से एक थान कपड़ा अभी त्रिपुरी कांग्रेस में निकाल कर दिखाया गया था। लेकिन धीरे-धीरे यह समाप्त कर दिया गया। ग्रामीण उद्योग प्रयासपूर्वक नष्ट किए गए। उत्पादन के सभी साधनों का मिल उद्योगो मे केन्द्रीयकरण किया गया तथा पूंजीवादी अधिष्ठानों का ही राजसत्ता पर अक्षुण्ण आधिपत्य हो गया। गाँव में बेकारी और भुखमरी आ गई। आज की राजनीति खुशहाली और सम्पन्नता की राजनीति है। चुनाव दिन-प्रति-दिन

होते जा रहे हैं। ग्रामीण जन लाखों करोड़ों रुपये खर्च कर इस चुनाव में पार नही पा सकता, परिणामतः गाँव की बुद्धि तथा नेतृत्व धीरे-धीरे समाप्त हो जावेगा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था शहरी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की दासानुदास हो जावेगी।

जब मैं पूँजीवादी व्यवस्था की बात करता हूँ तब मेरा आशय सामान्य व्यवसायियों से नही रहता। साधारणतः आम व्यवसायी तो एकाधिकारवादी पूँजीवादी व्यवस्था का उतना ही गुलाम है जितना एक सामान्य ग्रामीण जन। सामान्य व्यापारी पहले ग्रामीण उत्पादन का विपणन करते थे और अब मोनोपली मिल उद्योगो के उत्पादन की है। दोष तो राष्ट्रीय एवं बहु राष्ट्रीय केन्द्रित सर्वग्राही वृहत पूँजीवादी मिल उद्योगों का है जिसने उत्पादन के समस्त साधनो को अपने मुट्ठी में बन्दकर इस देश में ४० करोड़ कारीगरो को बेकार कर दिया है। आज गाँव की आबादी शहरों की ओर इसलिये भाग रही है कि उनके पास काम नही है और उनकी जमीन भी वर्तमान दूषित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उनके हाथ से बाहर निकली जा रही है।

इन सारे सन्दर्भों में हमे सोचने व गाँव को समझने का नजरिया बदलना पड़ेगा। गाँव मात्र खेती ही नही है अपितु वह मुख्यतः ग्रामोद्योग भी है। जैसे हम केवल सीता सीता या राम राम नहीं कहते अपितु सीताराम कहते हैं उसी प्रकार हमे गाँव में खेती के साथ-साथ अनिवार्य रूप से कानूनन ग्रामोद्योग को पुनर्स्थापित करना ही पड़ेगा, बगैर उसके कोई चारा नही है।

विगत २० वर्षों की दुनिया के सभी देशों का कृषि पर अवलम्बित जन-संख्या के यदि हम आँकडे निकालें तो ज्ञात होगा कि कृषि पर निर्भर करने वाली जनसंख्या इन राष्ट्रों में धीरे-धीरे कम हुई है। जहाँ ३५ प्रतिशत थी वहाँ १५ या २० प्रतिशत हो गई है। ब्रिटेन जैसे देशों में तो केवल तीन प्रतिशत है। हमारे देश मे यह बढते-बढ़ते शत प्रतिशत हो गई है। यह दिवालिया एवं असहाय अर्थव्यवस्था की निशानी है। पहले हमारे गाँव मे ३० से ४० प्रतिशत लोग खेती के काम में लगते थे तथा शेष ६० से ७० प्रतिशत लोग विभिन्न ग्रामोद्योग में व्यस्त रहते थे। कपडे का काम, धुनाई, कताई, रंगाई, बुनाई, लोहारी, कुम्हारी, बढईगिरी, तेलघानी, चर्मशिल्प आदि का काम सभी गाँव में ही होता था। इनके लिये मिल उद्योग नही थे। मेले-टेले में शहर के व्यापारी आते थे तथा गाँव में उत्पादित कपड़ा, तेल,

बर्तन, औजार, फर्नीचर, कम्बल एवं ग्राम-शिल्प की [illegible] खरीद कर शहर मे ले जाकर बेचते थे, और आज [illegible] से लेकर तेल तक शहर से गांव मे जाता है।

गांव मे आर्थिक खुशहाली [illegible] जमीन का वैज्ञानिक आधार पर समुचित वितरण तो करना ही होगा लेकिन व्यापक और अनिवार्य रूप से गांव में ग्रामोद्योगो का विकास करना पड़ेगा। ऐसे समस्त उद्योग जो गांवों में विकेन्द्रित रूप से चल सकते हैं उन्हें केन्द्रीभूत बड़े उद्योगो के रूप में चलाए जाने के लिये कानूनन रोक लगाना होगा। कपडे का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि हमारी सूती मिलें तीस नम्बर से नीचे का सूत कातना बन्द कर दें तथा कानून के द्वारा नये माडल चर्खे से यह सूत अनिवार्य रूप से ग्रामीण क्षेत्र मे ही निर्मित हो तो मात्र आज इसी उद्योग से गांव की बेरोजगार जनसंख्या का तीस प्रतिशत रोजगार पा जावेगा। सूत की विभिन्न प्रक्रियाओं मे यथा धुनाई, कताई, रंगाई, बुनाई विपणन मे लगकर उसकी बेकारी दूर होगी। वह अपने घर गांव मे ही रहकर खुशहाली का जीवन जी सकेगा तथा जमीन बेचकर शहर भागकर जाने के कारण एक दानवी व्यवस्था का गुलाम नही बन सकेगा। गांव की आबादी को यदि गांव में ही रोककर ग्रामोद्योग के जरिये काम दे दिया जाता है तो पूंजीवादी शोषण से मुक्ति मिलेगी ही और अति सभ्यता व अति नगरीकरण की परेशानी भी दूर हो सकेगी।

आज गांव मे उद्योग ही क्या हैं ? माल ढोने वाली गाड़ियों का स्थान ट्रकों ने ले लिया है। तेलियों का काम आइल मिल करने लगे हैं। ढेकी को राइस मिलें चट कर गईं। आरा कसियों का काम सा मिल करने लगे तथा जूता-चप्पल बाटा बनाने लगे, एवं कपड़ा मिल बनाने लगे। गांव मे बस शेष रहा, खेती करना, साहूकारी करना, अफसरों की दलाली करना व हाथ भट्टी के शराब बनाना मात्र। अतः इस दृष्टि से हमे ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सोचना पड़ेगा। खेती मे सुधार व उसका बँटवारा तो हो ही, खेती की अर्थ नीति किसानों के हाथ में हो तथा ग्रामीण नेतृत्व प्रबल हो। चूंकि खेती मे ३० से ४० प्रतिशत लोग ही काम पा सकते हैं, अतः शेष ६० से ७० प्रतिशत लोगों के लिये ग्रामोद्योग अनिवार्य रूप से लाना होगा।

पुराने प्रार्थनावादी तरीके से एकाधिकारवादी मिलवादी व्यवस्था को हटाया नहीं जा सकेगा। वह बहुत आजमा कर देख लिया गया है।

लिये राष्ट्रव्यापी प्रबल एवं संगठित ग्राम आन्दोलन की आवश्यकता होगी, जो शासन पर दबाव डालकर उचित कानून बनवा सकें। यदि कानून से जमीदार, राजे-रजवाडे जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि देश की अहम समस्या के निराकरण हेतु तथा बेरोजगारी दूर करते हुए ग्रामीण खुशहाली के लिये हम एकाधिकारवादी मिलों व उद्योगों पर कानूनी नियन्त्रण व प्रतिबन्ध न लगा सकें। कपड़ा सूती, ऊनी, रेशमी, साबुन (नहाने एवं धाने का), तैल व उससे बने उद्योग, कुम्हारी, लोहारी, बर्तन निर्माण, रेशे, चर्मशिल्प, बाँस, बेंत व काष्ठ उद्योग, अनाज, प्रसाधन, फल संरक्षण, माचिस, अगरबत्ती, खाद सरक्षण, कागज, खाण्डसरी आदि ग्रामोद्योग ग्रामीण क्षेत्र में ही हों, तथा इनके सरक्षण हेतु मिलों के उद्योगों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाया जावे क्योंकि ऐसे उद्योग मिलों के प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक सकेंगे। ।इससे बेकारी दूर होगी, गाँव जागेगा, उसकी खुशहाली बढ़ेगी। इससे अति नगरीकरण के दोष दूर होंगे तथा भारतीय ग्रामीण सस्कृति व सभ्यता का विकास होगा। ग्रामोद्योगों मे पूंजी का सम्यक विभाजन होता है, इससे अपने आप समानता आती है। एकाधिकारवादी उद्योगों में पूंजी और सत्ता का केन्द्रीकरण, श्रम का शोषण एव विषमता होती है।

यह आर्थिक पुनर्रचना का कार्यक्रम है। चीन गांधी जी के सिद्धान्तो को न मानते हुए भी समूचे चीन मे विकेन्द्रित उद्योगों व ग्रामोद्योगों के जरिये शत प्रतिशत रोजगारदारी स्थापित कर चुका है। जबकि हम गांधी का नाम लेकर बिलकुल विपरीत दिशा में चल रहे हैं। अब समय आ गया है कि ग्राम-आन्दोलन आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद पर बेरोजगारी दूर करने हेतु ग्रामीण नेतृत्व के सहारे प्रारम्भ किया जावे। अभी तो मात्र यह है कि यह आजादी नगरो की है, वास्तव में भारत का गाँव गुलाम है, सत्ता पूंजी के महापर्व मे भूखा भारत का राम है।

• •

मँहगाई एवं बेरोजगारी : एक दृष्टिकोण

पिछले कुछ वर्षों से मँहगाई का दानव निरन्तर विकराल रूप धारण करता चला जा रहा है और आज उससे देश का सम्पूर्ण मानव समाज अत्यधिक उद्वेलित एवं चिन्तित है। इसी प्रकार मँहगाई के साथ बेरोजगारी की समस्या भी जटिल से जटिलतम होती चली जा रही है। यदि समय रहते उसका सक्षम एवं सम्यक निदान नहीं किया गया तो देश और सामान्य लोगों की क्या स्थिति होगी उसकी कल्पना भी भयावह है।

मुझे एक घटना का स्मरण होता है। जब मैं सन् १९७२ में भारतीय संसदीय शिष्ट मंडल के अन्तर्गत इंग्लैन्ड की यात्रा पर गया हुआ था, उस प्रवास की अवधि में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के एक भोज समारोह में मेरे पास मेरी टेबल पर आतिथेय के रूप में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के राज-नीतिशास्त्र के प्रोफेसर थे। उन्होंने चर्चा के दौरान यह चिन्ता व्यक्त की थी कि वे इंग्लैन्ड में बढ़ रही बेरोजगारी की समस्या से अत्यधिक परेशान हैं। वहाँ उनके आँकड़ों के अनुसार उस समय करीब ८ मिलियन लोग बेरोजगार थे। उन्होंने यह भी कहा कि भारतवर्ष की समस्या तो और भी भयानक है क्योंकि वहाँ बेरोजगारी की संख्या तो करोड़ों में है और इस सम्बन्ध में उन्होंने जानकारी चाही कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जिस देश ने आजादी प्राप्त किया है उस देश में आज हर वर्ग मार्गदर्शन चाहता है और भारतवर्ष इस दिशा मे स्वयं क्या कर रहा है। इसी प्रकार की एक दूसरी घटना मास्को की है, जब विश्व शान्ति कांग्रेस के सम्मेलन में भाग लेने के लिये भारतीय प्रतिनिधि के रूप में मैं वहाँ गया था। मास्को के बहुत बड़े डिपार्टमेन्टल स्टोर में कुछ खरीदी करने के लिए हम लोग गये थे। वहाँ पूरे स्टोर मे पता लगाने पर यह ज्ञात हुआ कि नहाने का साबुन केवल

अथवा ४ प्रकार का ही उपलब्ध है। इससे ज्यादा प्रकार के साबुन का वहाँ निर्माण नही होता। इसी प्रकार की स्थिति कपड़ों व कास्मेटिक की बुनाई मे भी बताई गई। उपभोक्ता वस्तुओं की दृष्टि से रूप मे केवल आवश्यक वस्तुओं का ही उत्पादन एवं निर्माण हुआ है तथा कुछ आराम एवं वैभव की वस्तुएँ आज के समृद्धशाली तथा प्रगतिशील रूस जैसे राष्ट्र मे अभी भी नही बनती है। यह भी एक आश्चर्य की बात मालूम हुई कि रूस में पिछले २५-३० वर्षों से भावों में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। मेरे ख्याल से यह अपने आप में एक आश्चर्यजनक बात है।

हमारे देश मे आजादी के बाद से निरन्तर विकास के लिए हर दिशा मे बेतहाशा दौड़ एवं होड़ प्रारम्भ हो गई। उसमें बहुत सी ऐसी बातें, जो इस देश की वास्तविक उन्नति के लिए आवश्यक थी, रह गईं और हम प्राथमिकता के क्रम में काफी पिछड भी गये। विकास के कार्यों में बेतहाशा पैसा लगा। निर्माण के असख्य-कार्य प्रारम्भ हुए जिसमें अफरा-तफरी वाली बातों को यदि नजर अन्दाज भी कर दिया जाय तो भी अरबों-खरबों रुपया लोगो के पास तथा बाजार मे आ गया है। चूंकि यह रुपया सही हिसाब का नही था इसलिये उसका उपयोग भी उस दृष्टि से नही किया जा सका। समाज के कुछ वर्ग के हाथो मे, जिनमे नेता, अफसर और व्यापारी सम्मिलित हैं, रुपया ज्यादा आ जाने के कारण बाजार में उपभोक्ता वस्तुओ की माँग विशेष रूप से बढ गई तथा यहाँ के उद्योगपति एवं नव-कुबेर विभिन्न प्रकार के वैभव विलास एवं उपभोक्ता वस्तुओं के अच्छे से अच्छे किस्मों के उत्पादन के कार्यों मे अपनी पूँजी का विनियोजन करने लगे। आज भारतवर्ष मे टेरीलिन और टेरीकाट के कपडो के ही एक हजार से भी ज्यादा किस्म के वस्त्र बनाए जाते हैं तथा यही स्थिति ऊनी और सूती तथा रेशमी कपडो के संबध मे है। उसी प्रकार से अपने देश मे नहाने के साबुन की स्थिति है। यदि कुल मिलाकर गणना की जाय तो उसकी हजारों नही तो सैकड़ो किस्में जरूर निकलेंगी। अन्य कास्मेटिक पदार्थ तथा बिजली के बने घरेलू उद्योग के सामान टेलीफोन, फ्रीज आदि इसी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन बिना किसी झिझक के तथा बिना किसी रोकटोक के हो रहे हैं और इस कार्य मे देश की अरबों-खरबो की पूँजी लगी हुई है। बैंक भी ऐसे कार्यों को वित्तीय सहायता देता है तथा मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस प्रकार के उद्योग मे ज्यादातर काला धन ही लगा हुआ है। इस देश मे जहां ४० करोड़ से भी ज्यादा लोग एक

वक्त का खाना जुटा न पाते हों तथा जहाँ इतनी बड़ी विशाल जनसंख्या गरीबी की जीवन रेखा के नीचे जीवन व्यतीत करने को विवश हो रही हो वहाँ किसी रूप में उपभोक्ता संस्कृति को प्रश्रय देना, कुछ फैशन की वस्तुओं के बहशियाना उत्पादन करना देश को अर्थव्यवस्था को बोझिल बनाता है तथा अनुत्पादक कार्यों मे पूंजी के विनियोजन के कारण मँहगाई को बढावा देता है। आज आवश्यकता है एक साहसिक निर्णय की। यह निर्णय लिया जाना अत्यन्त आवश्यक है कि पहिनने के कपड़ों में अधिक से अधिक १० प्रकार के ही कपड़ों का उत्पादन किया जाय जिनमें सभी प्रकार के कपड़े सम्मिलित हों। उसी प्रकार से प्रसाधन आदि के उपकरणों के निर्माण में भी कठोरतापूर्वक अनुशासन लाने की आवश्यकता है। नहाने के साबुन के २-३ प्रकार से ही काम चल सकता है। देश जब तक गरीबी की सीमा से ऊपर नही उठ जाता है तब तक २-३ प्रकार के साबुन के प्रयोग करने से किसी का दम नहीं घुटेगा और न प्राणान्त ही होगा।

बाजार में आज के इस बेतहाशा उपभोक्ता वस्तुओं की भीड में यदि अंकुश लगाया जाय तो निश्चित रूप से आम जनता की जरूरत के लिये लगने वाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होगी और इस प्रकार की वस्तुएं बाजार में ज्यादा तादाद में आना शुरू होगी जिससे निश्चित रूप से मँहगाई पर रोक लगेगी। साथ ही जिनके पास प्रचुर मात्रा मे आराम से कमाई हुई सम्पत्ति है उसका उपयोग वे उपभोक्ता की संस्कृति वाली वस्तुओं मे नही कर सकेंगे और न ऐसे वस्तुओं के उत्पादन में वे पूंजी लगा सकेंगे, न हो उन्हे अपने भोग-विलास बढ़ाने की दृष्टि से ही उपयोग कर सकेंगे। मँहगाई रोकने के लिये मेरी दृष्टि में आवश्यक है कि अनुत्पादक फैशन की वस्तुओं के उत्पादन पर कानूनी रोक लगायी जाय। इससे आज के मँहगाई के बाजार मे तत्काल प्रभाव पड़ेगा। इससे कपड़ों की तथा फैशन की दुकानें जनता की आवश्यक वस्तुओं की दुकानो के रूप में परिणत हो जायेगी।

इसके बाद तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि देश में लोहा, इस्पात, बिजली तथा इसी प्रकार की आवश्यक वस्तुओं को छोड़कर जन-सामान्य की आवश्यकताओं से संबंधित वस्तुओ के उत्पादन के बड़े कारखानों पर तत्काल कानूनी रोक लगायी जाय। आज हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है कि हम ४० करोड़ लोगों को किस प्रकार और कैसे काम दें। दफ्तर और कारखानों में सबको खपाना मुश्किल हो नही तो असंभव भी है।

जो भी नये कारखाने खुलते हैं वे लाखों की रोजी रोटी समाप्त कर कुछ चंद लोगों को ही काम दे पाते हैं। गांधी जी ने देश के सामने खादी व ग्रामोद्योग का रास्ता बताया था लेकिन आज हम उसे बिलकुल भूल बैठे हैं। आज देश के भीतर खादी एवं ग्रामोद्योग भण्डार मात्र सरकारी खरीद के सहारे ही चल रहे हैं। ऐसा कौन सा वाद है, यह कौन सी शासन प्रणाली है अथवा ऐसी वह कौन सी आर्थिक व्यवस्था है जिसके तहत् सम्पूर्ण देश मे काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए गांव के लगभग ६० करोड़ लोगों को रोजी-रोटी का सहारा दिया जा सके। चीन जो सैद्धान्तिक रूप से गांधीवाद का विरोधी है तथा अपने को विश्व का एकमात्र साम्यवादी देश घोषित करता है, उसने चीन में शत-प्रतिशत रोजगार देने का संकल्प किया हुआ है। यह शत-प्रतिशत रोजगार वहाँ किस प्रकार से मुहैया कराया जाता है उसकी जानकारी प्राप्त करने पर ज्ञात होगा कि चीन ने प्रकारान्तर से गांधीवाद का ही प्रश्रय लिया है और वहाँ ग्रामीण सेक्टर मे बड़े पैमाने पर कुटीर एवं ग्रामोद्योग चलाये जा रहे हैं। हम जो गांधी के देश के है और जो गांधी के नाम के बगैर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते आज गांधी को मात्र आदर्श की वस्तु बनाये हुए हैं। हमारे देश मे अंग्रेजों के जाने के पहिले गांव में अच्छे से अच्छे कपड़े बनते थे तथा ग्राम शिल्प एवं हस्त शिल्प के सुन्दर से सुन्दर कारीगरी की आकर्षक वस्तुएं निर्मित होती थी, जिन्हे शहर के व्यापारी मेला-ठेला मे खरीदकर उसके आधार पर अपना वाणिज्य व्यापार करते थे तथा विदेशों में भी उन वस्तुओं का निर्यात होता था। भारतवर्ष के बने मलमल के कपड़े इंग्लैंड की सुन्दरियाँ बड़े चाव से खरीदती एवं पहिनती थी तथा उस पर रोक लगाने के लिए तत्कालीन इंग्लैंड की सरकार को कानूनी प्रावधान भी करना पड़ा था। ढाका के मलमल एवं किमख्वाब की साड़ियाँ बड़ी प्रख्यात थी। गांव अपने आप में स्वावलम्बी थे तथा उस पुराने युग में, जबकि आज जैसी नहर आदि की प्रचुरता नही थी तब भी २-३ वर्ष तक अकाल पड़ते रहने के बावजूद गांव अपने आप में उस बोझ को सँभाल लेता था तथा लाखों की संख्या में लोगों का आज जैसा पलायन नहीं होता था। इसका एक कारण यह है कि पिछले जमाने मे बड़ी राइस मिलो या विभिन्न प्रकार के अनाज की प्रोसेसिंग मिलें न होने के कारण तथा संचार के साधनो की कमी होने की वजह से गांव का अनाज गांव से बाहर बहुत कम जा पाता था और उस समय का किसान भी जरूरत पड़ने पर अनाज बेचने के कारण अनाज का स्टाक रखता था। इसलिये

अकाल आदि की स्थिति में स्टाक में रखे हुए अनाज के कारण गाँव मे लोग भूखों नहीं मरते थे। आज तो फसल आते ही किसान उस वर्ष के उत्पादन का सारा अनाज बडे मिलो एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों को जाकर दे देता है और इसलिये एक साल के अकाल से ही गाँव की कमर टूट जाती है। पहिले ग्रामोद्योगों का भरमार रहता था इसलिये खेती मे काम न होने के बाद भी गाँव के लोग बेकार नही होते थे। कपड़ा बुनाई की विभिन्न प्रक्रियाओं मे लोग लगे रहते थे, बुनकर कपड़ा बनाता था, सूत कातने वाले सूत कातते थे, रंगरेज रंगाई करता था और बाजार करने वाले उन्हें बाजार मे ले जाते थे। उसी प्रकार से लोहार लोहारी का काम करता था, बढ़ई बढ़ईगिरी करता था, गाड़ी वाले माल ढोने का काम करते थे, कुम्हार घडे बनाने का काम करता था। तात्पर्य यह कि हर व्यक्ति काम में लगा रहता था। इसके लिये अलग से निश्चित कार्य खोले जाने की इतनी आवश्यकता नही रहती थी। आज तो एक साल भी अकाल पड़ जाय तो करोड़ों और अरबों के राहत कार्य प्रारम्भ होते हैं और बाद मे उन राहत कार्यों मे घपले होने के आरोपों के फलस्वरूप उनकी जाँच भी होती है। कागजों पर सड़क बन जाती हैं और मौके पर देखने पर वहाँ सडक कही रहती नहीं। मेरा तो यह सुझाव है कि राहत कार्यों में लगने वाली यदि पूरी नही तो आधी राशि ही गाँव में सीधे ग्रामोद्योग प्रारम्भ करने में लगाई जाय तो उससे स्थाई रूप से राहत का कार्य होगा, लोगों को रोजगार मिलेगा, लोग अपने पैरो पर स्वयं खड़े होंगे।

लेकिन आज के युग में मिलो के मुकाबले में बड़े पैमाने पर ग्रामोद्योगो को शुरू कर देना इतना आसान काम नहीं है क्योंकि इस अवधि में जन-मानस का संस्कार और लोगो की आदत को हम लोगों ने पर्याप्त रूप से भ्रमित कर दिया है। इसलिये इस सम्बन्ध मे कानून का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक होगा। जिस प्रकार से कानून बनाकर राजाओं और महाराजाओं को निरस्त किया गया, जमीदारी हम लोगो ने ली, मालगुजारी समाप्त की, प्रिव्ही पर्स खत्म किया, बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण किया, उसी प्रकार अब वक्त आ गया है कि एक क्रान्तिकारी निर्णय अब इस सम्बन्ध मे भी लिया जाय। वह क्रान्तिकारी निर्णय इस प्रकार का होगा कि कतिपय राष्ट्रीय हित मे आवश्यक बड़े उद्योगों को छोड़कर सारे बड़े कारखानों और मिलो पर रोक लगाना होगा जो सामान्य जनता के हित के लिये हर प्रकार से उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण करते हैं तथा साथ ही साथ दूसरा कानून बनाकर यह प्रावधान करना

होगा कि इस प्रकार के तमाम उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण विकेन्द्रित रूप में ग्रामीण स्तर पर ग्रामोद्योगों के माध्यम से ही हो। साबुन, तेल, प्रसाधन के उपकरण, जूता, चप्पल, बर्तन, औजार आदि सारी वस्तुएँ कारखानों और मिलों में न बनकर ग्रामोद्योगों के माध्यम से ही बनाएँ जायें। मैंने गणित का हिसाब लगाकर देखा है कि अकेले सूती कपड़े के उत्पादन के कार्य में लगभग २० करोड़ लोग कार्य से लग जायेंगे तथा उनको रोजगार प्राप्त होगा तथा दूसरे अन्य असख्य उद्योग गाँव के स्तर पर प्रारम्भ हो जायेंगे। इससे जो आज पूंजी का केन्द्रीयकरण हो गया है तथा आज भारतवर्ष की पूंजी की समस्त धरोहर केवल १२ खानदानों में सिमट गई है उसका बिखराव गाँव और सामान्य जनों मे करोड़ो लोगो मे होगा। पूंजी के मान से जब ग्रामोद्योग बढ़ेंगे तथा आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का ही निर्माण होगा तब मँहगाई आपने आप समाप्त हो जायगी। वस्तुतः आज की मँहगाई के पीछे और चाहे जो भी कारण हो लेकिन इस मँहगाई की अर्थव्यवस्था के पीछे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का भी कुटिल जाल फैला हुआ है। मिलो मे जो वस्तुएँ उत्पादित होती हैं उनके लागत मूल्यो के मान से बाजार मे जो वस्तुएँ आती हैं वे तीन गुना ज्यादा होती हैं तथा उस पर कभी-कभी साधारण राहत पहुँचाने की कार्यवाही तो की जा सकती है लेकिन जड़मूल से उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। वर्तमान प्रजातान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था मे चुनाव आदि के मामलों मे इन पूंजीवादियो को उनके थोड़े से अहसान की कीमत पर राष्ट्र को बहुत बड़ा मूल्य चुकाने के लिये विवश होना पड़ता है। इन सब की एक बारगी समाप्ति केन्द्रित पूंजीवादी उद्योग के मुकाबले मे अनिवार्य ग्रामोद्योग स्थापित करने मे ही है। यदि इस माध्यम से हम देश के कम से कम ४० करोड़ लोगो को काम दे सकें तो अपने आप मे बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। गांधीजी क्रान्ति-दर्शी, दूरदर्शी थे। उन्हे भारत के नब्ज की सही पकड़ थी और इसलिये उन्होंने खादी और चरखा को प्रतीक के रूप मे चलाया था। आज भी हमारे सामने इसके सिवाय कोई दूसरा विकल्प नही है। भले ही आज हम यह निर्णय न लें लेकिन जब हालत और भी ज्यादा बदतर हो जायगी तथा समस्या गम्भीर रूप मे चुनौती के रूप मे हमारे समक्ष खड़ी होगी तब विवश होकर हमे इसी रास्ते पर ही जाना होगा। समाजवाद का भी वस्तुतः यही विकल्प प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत है।

वर्तमान स्थिति मे २-३ बातो की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता

है। पहिला तो यह कि इन्कम टैक्स की व्यवस्था के अलावे एक्सपेंडिचर टैक्स की व्यवस्था प्रारम्भ की जानी चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अथवा परिवार को अपने खर्च का हिसाब देना पड़ेगा और उसकी सीमा से ज्यादा खर्च और वह भी खास तौर पर अनुत्पादक वस्तुओं पर किये गये खर्च पर भारी टैक्स लगाना चाहिये। इस देश में जहाँ एक तरफ बहुत से लोग भूखे और नंगे हैं वही दूसरी ओर ऐसे बहुत बड़ी तादाद में नव धनाढ्य और नव कुबेर हैं जिनके सामने यह समस्या है कि वे अपने पैसो को कैसे खर्च करें। ये लोग अनाप-शनाप पैसे खर्च करते हैं तथा यही लोग समाज के वातावरण को अनैतिक एवं दूषित करते हैं। इसलिये इन सबको उनके खर्च का हिसाब देना लाजमी बनाया जाय, सीमा से ज्यादा खर्च हो जाने पर उन पर भारी करारोपण किया जाय।

9581
16.5.8

इसी के साथ नौकरी के सम्बन्ध में भी एक सैद्धान्तिक निर्णय लिया जाना आवश्यक है। आज ऐसा देखने में आता है कि एक ओर जहाँ बड़ी सख्या में ज्यादा तादाद मे लोगों के परिवार के लोग नौकरी से वंचित रहते हैं वही दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिनके परिवार में प्रत्येक आदमी नौकरी में लगा हुआ होता है। साहब अफसर है तो बीबी कही पढ़ाती है, बेटा कहीं काम करता है, बहू भी नौकरी करती है और बेटियों को भी कुछ काम मिल जाता है। ये इस प्रकार के लोग होते हैं जो सत्ता, शक्ति तथा सम्पति किसी न किसी रूप में अजित कर लेते हैं और इस प्रकार की नौकरी का अपने परिवार में केन्द्रीकरण कर लेते हैं। ऐसे नियम बनाना चाहिये कि जब तक बहुसंख्यक समाज के प्रत्येक परिवार के एक व्यक्ति को नौकरी न मिल जाय तब तक एक परिवार में एक से अधिक व्यक्ति को नौकरी न दी जाय। इस नियम को कठोरता से पालन करने पर ही बेरोजगारी के समाधान में सहायता मिलेगी।

इस सन्दर्भ में हमें अपने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या पर भी विचार करना होगा। पिछली जन-गणना के समय हमारे देश की जनसंख्या मात्र ४५ करोड़ थी तथा १९८१ की जनगणना में आज हम लोग ७० करोड़ हो गये और अगर यही हालत रही तो आगामी वर्षों में एक अरब के आस-पास भी हमारी जनसंख्या हो जायगी तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। अब तो जनसंख्या इतनी बढ़ गई है कि हमें छोटे शहरों में सड़क पर साधारण रूप से चल पाना

मुश्किल है। हर जगह लम्बी लाइन लगती है, नौकरी के लिये, दरखास्त देने के लिये लम्बी लाइन, ट्रेन या बस मे जाँय तो लम्बी लाइन, बीमार पड़ जाँय तो अस्पताल में वहाँ लम्बी लाइन एवं बम्बई और कलकत्ता में तो यह स्थिति है कि यदि कोई मर जाय तो मुर्दा जलाने के लिये वहाँ पर लम्बी लाइन लगानी पड़ती है। अगर इस बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक न लगाया गया तो हर योजना अपने आपमें बेकार सिद्ध हो जायगी। मेरे ख्याल से वैसे परिवार नियोजन के माध्यम से इस दिशा मे कुछ कार्य हो रहा है लेकिन उसकी गति धीमी है। इस सम्बन्ध में भले ही लोगों को अप्रिय लगे कानून का आश्रय लेना आवश्यक है तथा यह निर्धारित करना होगा कि २ बच्चे के बाद ज्यादा पैदायश होने पर सम्बन्धित व्यक्ति को दण्डित किया जाय। वैसे तो मँहगाई और बेरोजगारी की समस्या के सम्बन्ध मे और अनेक बातें प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण हैं लेकिन उन सबका समायोजन यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु उपर्युक्त विचार बिन्दुओं पर ध्यान देकर योजनामूलक कार्य करना आवश्यक है।

लोकतन्त्र : कुछ प्रश्न और चुनौतियाँ

२

प्रजातन्त्र में संसद एवं विधान सभाओं का सर्वोपरि महत्व होता है। इंग्लैण्ड के हाउस आफ कामन्स के सम्बन्ध में वहाँ एक उक्ति प्रचलित है कि संसद पुरुष को औरत बना सकने के सिवाय बाकी सब कुछ कर सकती है। संसद एवं विधान सभाओं का प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली मे इतना महत्व होता है कि उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसका संचालन संसद की चर्चाओं के माध्यम से होती है, तथापि अब राजनीतिक चिन्तकों के समक्ष यह विचार अत्यन्त ज्वलन्त रूप से उपस्थित है कि संसद तथा विधान सभाओं का स्वरूप किस प्रकार का हो, उनकी भूमिका क्या हो तथा सांसदों एवं विधायकों का क्या कर्तव्य और उत्तरदायित्व होना चाहिए। भारतीय गणतन्त्र की रजत जयन्ती हम मना चुके हैं तब यह प्रश्न और भी प्रासंगिक है। यह भी देखना आवश्यक होगा कि संसद तथा विधान सभाओं से क्या वस्तुतः लोक आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं की पूर्ति हो रही है एवं प्रजातन्त्र को शासन प्रणाली को जिस सक्षम एवं प्रभावशाली ढंग से कार्यरत होना चाहिए क्या उस हेतु विधान सभाएँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं और यदि नहीं तो इसके क्या कारण हैं। क्या उनके कार्यों और स्वरूपों का पुनर्मूल्यांकन एवं निर्धारण किया जा सकता है ?

भारतवर्ष ने प्रजातान्त्रिक मार्ग अपनाया है तथा आज विश्व में भारतवर्ष संभवतः दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातान्त्रिक देश है। सन् १९४७ के उपरान्त अभी तक प्रजातन्त्र की व्यवस्था का इतना सुसंगठित, सुनियोजित एवं सुचारु रूप में संचालित कोई दूसरा उदाहरण विश्व में अन्यत्र नहीं है। किन्तु इसके उपरान्त पुनश्च प्रश्नचिह्न जनमानस के समक्ष उभर कर

सामने आता है कि क्या यथास्थिति समाधानकारक है तथा प्रजातन्त्र को उत्कृष्ट एव उत्तम व्यवस्था भारतवर्ष में विद्यमान है ? हमारे विधायक एवं सासद सही दिशा मे अपनी भूमिका निभा रहे हैं ? इस सम्बन्ध में सबसे पहले मेरे मन मे विचार सन् १९६७ मे, जब मैं पहली बार विधान सभा का सदस्य हुआ था, उत्पन्न हुआ। मेरे मन मे स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि विधायकों के कार्य दायित्व एवं अधिकारों के सम्बन्ध में क्या कोई नियम बने हुए हैं अथवा किसी विधि विधान के अन्तर्गत उनका कोई प्रावधान है ? बहुत पता लगाने के बाद भी इस सम्बन्ध की कोई जानकारी मुझे उपलब्ध नही हुई सिवाय इसके कि विधान सभा की कार्यवाही को संचालित करने के लिये मध्यप्रदेश की विधान सभा की प्रक्रिया से सम्बन्धित नियम अवश्य देखने को मिले। इसके अनुसार विधान सभा की कार्यवाही का संचालन एवं नियमन होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष जीवन में सर्वत्र विधायको की अहम् भूमिका परिलक्षित होती है तथा बगैर विधायकों की सम्मति एवं परामर्श के कोई भी काम किसी भी विभाग में आसान प्रतीत नही होता, तथापि आये दिन इस प्रकार की शिकायतें मिलती हैं कि विधायको के हस्तक्षेप से प्रशासन के कार्यों में व्यवधान उत्पन्न होता है तथा अनेक प्रकार को प्रशासनिक गलतियों के लिए भी कभी इस पक्ष के और कभी उस पक्ष के लोगों के द्वारा सामान्य तौर पर विधायको एव सांसदो पर ही आरोप लगाये जाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या वस्तुतः ऐसा होता है और यदि होता है तो विधायकों अथवा सासदों को इस प्रकार के अधिकार उपलब्ध हैं या सहज विधान सभा के अथवा संसद के सदस्य होने के नाते वह अघोषित एवं अलिखित अधिकारों के अन्तर्गत प्रशासन को कार्यवाहियों मे सीधे हस्तक्षेप करते हैं ? इस परम्परा को बनाये रखने हेतु (यदि बनाये रखा है तो) उसकी क्या सीमा हो और यदि नही तो उसका क्या विकल्प हो सकता है ? ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जो प्रजातन्त्र के जीवन और उसके औचित्य के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। इन सब का सही निराकरण ही प्रजातन्त्र के उत्कृष्ट स्वरूप का निराकरण हो सकता है।

यह सर्व विदित तथ्य है एवं उसकी सत्यता से आँख नही मूँदी जा सकती कि प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत विधायिका का सर्वोपरि महत्व एवं स्थान होना चाहिए। विधान निर्माण के अतिरिक्त नियमों एवं अधिनियमों के अन्तर्गत उनका कार्यान्वयन एवं परिपालन किस रूप मे किया जा रहा है एवं

प्रशासनिक अधिकारी अपने कर्त्तव्य और अधिकारों के अन्तर्गत अपेक्षित दायित्व का निर्वाह किस रूप में कर रहे हैं, इस हेतु उनका निरीक्षण एवं नियन्त्रण का भी दायित्व इन विधायिकाओं का होता है। इस हेतु सर्वप्रथम इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि हमारी विधान सभाएँ आज किस रूप में और किस सीमा तक इन कार्यों को पूरा कर पा रही हैं? ब्रिटिश पार्लियामेंट को सभी संसदों की जननी कहा जाता है और भारतवर्ष में ब्रिटिश पार्लियामेंट की परम्परा का अनुकरण भी किया जा रहा है। विधान सभा की महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में आज भी हाउस आफ कामन्स में दिये गये निर्णयों को न केवल दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है वरन् उसको सर्वाधिक मान्यता भी दी जाती है। ऐसी स्थिति में देखा जाना अत्यन्त आवश्यक है कि क्या ब्रिटिश पार्लियामेंट की अन्य व्यवस्थाओं का हम पालन कर रहे हैं? इसके सम्बन्ध में तो अभी मैं कुछ न कहना चाहूँगा किन्तु विधान सभाओं के बारे में पहला प्रश्न उठता है कि जब प्रशासन का संचालन व नियमन विधान सभाओं के माध्यम से ही होना है, तो विधान सभाओं की बैठकें क्या इतनी होती हैं जिससे उपरोक्त कार्य को सही तौर पर किया जा सके? इस दिशा में जब विचार किया जाता है तब मन में एक भावना निश्चित रूप से उत्पन्न होती है कि सम्भवतः हम ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। यदि पिछले १५ वर्षों के आँकड़ों को उठाकर देखें तो यह ज्ञात होगा कि वर्ष में विधान सभा की कुल अधिक से अधिक ५० बैठकें की जाती होंगी। इन ५० बैठकों में बजट पारित करने से लेकर सामान्य चर्चा एवं कानून बनाने तक का कार्य सभी कुछ होता है। अनेकों बार जब बजट पारित होते हैं तब यह एक आम बात-सी हो गई है कि अनेक महत्वपूर्ण विभागों के बजट जो करोड़ों और अरबों के होते हैं विधान सभा में चर्चा के लिये भी नहीं रखे जा पाते और उन्हें गुलेटिन कर दिया जाता है और बहुत से विभागों की माँगें 'हाँ' और 'ना' के उत्तर में ही सिमटकर रह जाती हैं। क्या इसे समुचित व्यवस्था कहा जा सकता है? ब्रिटिश पार्लियामेंट में लगभग साल के ३६० दिन में ढाई सौ या तीन सौ से कम बैठकें नहीं होतीं। जन-जीवन से तथा प्रशासन से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न चाहे वह छोटा ही क्यों न हो पार्लियामेंट में न केवल उठाया जाता है, वरन् उस पर गम्भीर चर्चा होती है और उसे महत्व दिया जाता है। प्रजातंत्र की जागरूकता की यह सबसे बड़ी निशानी भी है। इसलिये सबसे पहली बात तो यह होनी चाहिए कि हमारी इन विधान सभाओं की बैठकें भी अगर साल

में पूरे दिन नहीं तो कम से कम २०० दिन जरूर हों। जब ज्यादा बैठकें होंगी तो किसी भी विषय पर विचार से और गहराइयों में जाकर विचार किया जा सकेगा। प्रशासन के हर पहलू पर चर्चा होने से मार्गदर्शन का सही कार्य होगा और इस माध्यम से निश्चित रूप से प्रशासन के कार्यकलापों पर अंकुश एवं नियन्त्रण होगा। सम्भवतः आज यह कड़ी लुप्त है। इसके कारण यद्यपि व्यक्तिगत रूप से विधायकों और सांसदों का महत्व बढ़ा है लेकिन सामूहिक रूप से विधान सभाओं एवं संसद का समाज एवं प्रशासन व्यवस्था पर प्रभाव शिथिल हुआ है।

११ इस संदर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख समीचीन होगा। जून १९७२ में कॉमनवेल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन की इंग्लैंड शाखा की ओर से दिये गये निमन्त्रण पर भारतीय संसदीय शिष्ट मण्डल इंग्लैंड की यात्रा पर गया था तथा उसने लगभग १ माह इंग्लैंड के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा की। इस शिष्ट मंडल में मध्यप्रदेश की विधान सभा का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। सभी विधान सभाओं में से कुल ५ राज्यों की विधान सभाओं के प्रतिनिधि गये थे। इस शिष्ट मंडल का अधिकांश समय ब्रिटिश पार्लियामेंट हाउस में ही वहां की कार्यवाहियाँ देखने-समझने तथा पार्लियामेंट के ब्रिटिश सदस्यों से चर्चा करने में ही व्यतीत हुआ। उस अवसर पर बहुत निकट से देखने पर यह ज्ञात हुआ कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में सदन के सदस्य कार्यवाहियों के हेतु अत्यधिक जागरूक एवं सतर्क रहते हैं। हमारे समक्ष एक प्रसंग ऐसा आया जब संचार मंत्री को इस कारण बहुत कठिन समय से गुजरना पड़ा क्योंकि वहां शीघ्रगामी डाक, पोस्ट करने के दूसरे दिन अपने गन्तव्य पर नहीं पहुँचा और एक दिन बाद हो वह प्राप्त करने वाले को मिला। इस विषय पर तीखी झड़प और गम्भीर आरोप प्रत्यारोप हुए। इस प्रकार का अवसर, भारतवर्ष के विधान सभाओं में अथवा संसद में बहुत कम ही देखने को मिलता है क्योंकि यहां बड़ी-बड़ी समस्याओं तथा गम्भीर विषयों पर भी चर्चा करने के लिये समय जब उपलब्ध नहीं रहता तो प्रशासन की सामान्य और छोटी कठिनाइयों पर चर्चा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मध्य प्रदेश की विधान सभा में ऐसे कई-कई वर्ष निकल जाते हैं जबकि राज्य परिवहन निगम, म० प्र० विद्युत मंडल, लोक सेवा आयोग, माध्यमिक शिक्षा मण्डल, म० प्र० गृह मंडल एवं इसी प्रकार के अनेक अन्य निगमों आदि की रिपोर्ट पर चर्चा

तक नहीं होती और उन्हें पटल पर रख दिया जाता है। जब कि इन पर विस्तार में जाकर उनके समस्त बिन्दुओं तथा पहलुओं पर गम्भीर चर्चा होनी चाहिए तथा विधान सभा के निर्देशों के अनुसार उन मण्डलों तथा निगमों का भावी कार्यक्रम निर्धारित होना चाहिए। विधान सभा का जब तक यह स्वरूप नहीं होगा तब तक इन विधायिकाओं से संविधान की एवं जन-सामान्य की जो आकांक्षाएँ हैं वे कदापि पूरी नहीं होंगी।

जिस समय हम लोग इंग्लैंड में थे उस समय वहाँ की पार्लियामेंट में एक अत्यन्त विवादास्पद बिल प्रस्तुत था। यह बिल यूरोपीय साझा बाजार से संबंधित था। इस बिल को लेकर वहाँ के संसद सदस्य अत्यधिक उत्तेजित थे तथा उस विषय पर पक्ष एवं विपक्ष में अपनी राय जाहिर करते थे तथा हमें लोगों की राय भी वे जानना चाहते थे। एक सबसे बड़े आश्चर्य की बात जो देखने में आई वह यह थी कि एक ही पार्टी के संसद सदस्य परस्पर-विरोधी राय जाहिर कर रहे थे। पूछने पर मुझे बताया गया कि इस विषय पर वहाँ की सभी पार्टियों ने पार्टी व्हिप की प्रथा को शिथिल कर दिया है तथा व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक सदस्य इस बिल के पक्ष में या विपक्ष में मतदान करने के लिये स्वतंत्र था। यह स्थिति भारतवर्ष की विधायिकाओं में संभवतः उदाहरण के लिये भी कभी उत्पन्न नहीं होगी, जबकि अनेक ऐसे विषय होते हैं जिनसे शासन के अस्तित्व का सीधा संबंध नहीं होता एवं जनहित की दृष्टि से उन पर मुक्त चर्चा आवश्यक हो जाती है। इन पर यदि व्हिप के अनुशासन को उदाहरण के बतौर भी शिथिल कर दिया जाय तो, मेरा ख्याल है कि उसका परिणाम भारतीय प्रजातंत्र की दृष्टि से कोई बुरा नहीं होगा। कई बार ऐसा देखने में आता है कि अनेक बिल व्हिप की व्यवस्था के कारण कानून तो बन जाते हैं लेकिन उसके पीछे सही भावना न होने के कारण उसके कार्यान्वयन में शिथिलता बनी रहती है और ऐसे कानून मात्र पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाते हैं। भिक्षावृत्ति उन्मूलन अधिनियम, दहेज-प्रथा उन्मूलन अधिनियम तथा हरिजन आदिवासियों को दिये जा रहे संरक्षण के संबंध में बने अनेक अधिनियम इसके जीवन्त उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष हैं।

विधायिकाओं का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रभावी ढंग से कार्य करने का माध्यम विभिन्न समितियाँ हैं। पूरी संसद अथवा विधानसभा में एक साथ सभी सदस्य सभी विषयों पर न तो चर्चा कर पाते हैं और न अपनी सम्मति

ही दे सकते हैं। साथ ही विधान सभाओं का माहौल भी अलग प्रकार का होता है जिसमें किसी विषय को सूक्ष्मता से वैज्ञानिक धरातल पर विवेचन कर सकने की संभावना एवं उसके अनुकूल वातावरण में ही नहीं रहता। अधिकतर कार्य उत्तेजनायुक्त राजनैतिक वातावरण में करना पड़ता है इसलिए कार्यकारी रूप मे प्रभावशाली और शक्तिशाली ढंग से कमेटियाँ ही अच्छा व उपयोगी कार्य कर सकती हैं क्योंकि कम लोग होते हैं, संतोषपूर्ण एवं सद्भावना के वातावरण में वहाँ चर्चा हो सकती है तथा परस्पर पक्षपात, राग-द्वेष की भावना भी कमेटियों में नहीं होती। हर विषय पर विस्तार से कण्डिकावार परखा जा सकता है तथा उस पर विचार-विमर्श किया जा सकता है तथा शोधपूर्ण प्रतिवेदन इन कमेटियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार शासन की नीतियो का आकलन तथा विभिन्न विभागों के द्वारा किये गये व्यय का परीक्षण आदि भी ऐसी कमेटियों के माध्यम से अच्छे ढंग से हो सकता है। वैसे तो लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति एवं जन उपक्रम समिति आदि विधान सभा के अन्तर्गत गठित होती ही हैं तथापि इनके अतिरिक्त और भी समितियाँ जो सामान्य जन-जीवन से संबंधित हैं, विधान सभा के माध्यम से गठित की जानी चाहिए और इन समितियों को अपने विषय के परीक्षण एवं अध्ययन हेतु पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए। कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने तथा गलत कार्य परिलक्षित होने की स्थिति मे इन्हीं कमेटियो के माध्यम से विधान सभाओं को प्रतिवेदन मिलने पर समुचित कार्यवाही करने का अधिकार दिया जा सकता है। वैसे तो भारतवर्ष में कमेटियो के द्वारा कार्य किये जाने की पद्धति का विकास सही ढग पर ही हुआ है लेकिन इनका परिष्कार एवं विस्तार भी अत्यंत आवश्यक है। मेरा तो यह भी सुझाव है कि शासन के विभिन्न विभागों के लिये विभाग के मंत्री की अध्यक्षता में विधान सभा सदस्यों अथवा संसद सदस्यों की विभागीय समितियाँ बनाई जानी चाहिए और ये विभागीय समितियाँ कम से कम माह मे एक बार अवश्य मिलें और उस विभाग के कार्यों की विस्तार से समीक्षा करें तथा उनका प्रतिवेदन विधान सभा में रखा जावे, साथ ही महत्वपूर्ण घटनाओं की जाँच का कार्य भी विधायकों को दिया जाना उचित होगा। यदि ज्यादा समय तक विधान सभा की बैठकें चलती हैं तथा उपरोक्त पद्धति से विधायकों का कार्य संचालित किया जाता है तो निश्चित रूप से शासन की कार्यपालिका तथा उसके विभागीय कार्यकलाप एवं उसके द्वारा किये जाने वाले व्यय पर

अंकुश लगेगा और इसके माध्यम से विधायकों का अपेक्षित नियन्त्रण एवं निरीक्षण कार्यपालिका पर स्थापित होगा। साथ ही व्यक्तिगत रूप से संसद सदस्यों या विधायकों द्वारा प्रशासन में उचित या अनुचित हस्तक्षेप किये जाने की जो निरन्तर शिकायतें सुनने में आती हैं उनमें भी पर्याप्त कमी आएगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सांसदों तथा विधायकों के हेतु उनकी भूमिका, कर्तव्य एवं अधिकारों के लिए कोई लिखित व्यवस्था देखने में नहीं आई है तथापि मार्गदर्शन के रूप में संसद तथा विधान सभा से पारित किये जाकर यदि किसी प्रकार की आचरण संहिता का निर्माण किया जाता है तो मार्गदर्शन सिद्धान्त के रूप मे उसका स्वागत किया जाना चाहिए। नीति निर्धारण का कार्य विधान सभाओं के अनुमोदन से शासन को करना चाहिए तथा नीति का क्रियान्वयन सही हो रहा है अथवा नहीं इसका निरीक्षण विधान सभा की विभिन्न समितियों को करना चाहिए। इस संबंध में व्यक्तिगत स्तर पर हस्तक्षेप करने के अधिकार को प्रश्रय देना सर्वथा अनुचित होगा। यदि कोई विधायक अथवा सांसद अपने क्षेत्र के संबंध में अथवा किसी कर्मचारी या अधिकारी के वांछित अथवा अवांछित होने के संबंध में कोई सुझाव देना चाहता है तो वह सुझाव कार्यपालिका को न देकर उसे विभाग के मंत्री को ही देना उचित होगा और इसका निराकरण परीक्षणोपरान्त जन-हित तथा न्यायहित मे किया जाना चाहिए।

संसद तथा विधान सभाओं के अच्छे कार्यकलापों की दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है कि संसद तथा विधान सभाओं की प्रक्रियाओं के अनुसार अध्ययन तथा तत्संबंध में प्राप्त अन्य साहित्य का मनन-चिन्तन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। आजकल अध्ययन की प्रवृत्ति लगभग समाप्त सी होती जा रही है तथा विधान सभाओं की प्रक्रियाओं का अनुपालन न होकर विधान सभाओं में हंगामों के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं जिससे उसका लाभ न तो किसी पक्ष को मिल पाता है और न ही किसी सर्वसाधारण को। बिना प्रक्रिया एवं नियम के विधान सभाओं की चर्चा एवं बहस अपने आप में व्यर्थ एवं निरुद्देश्य मौखिक व्यायाम ही होता है। अतएव प्रारम्भ में नये चुनकर के आये विधान सभा सदस्यों के लिये, मार्गदर्शन केन्द्र की स्थापना यदि की जाय, तो उसका परिणाम अच्छा होगा। इसी तरह विभिन्न पार्टियों को भी अपने पार्लियामेंट्री पार्टी के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विभागों की इकाइयाँ स्थापित

करनी चाहिए, जहाँ वस्तुओं का संकलन हो और उस दिशा में कुछ विधायकों अथवा सांसदों को प्रशिक्षित किया जा सके। चर्चा का जितना ही अच्छा सार विधायकों का होगा, उतना ही नागरिक जीवन में एक सामान्य जीवन प्रशासन पर उसका असर पडेगा। विधान सभा में बैठने वाले जनसेवक अक्सर यह भूल जाते हैं कि सारे प्रदेश की दृष्टि उन पर लगी रहती है। उनकी प्रत्येक चर्चा और उनके प्रत्येक व्यवहार से प्रदेश का जनजीवन प्रभावित होता है।

• •

नये सन्दर्भ में लेखक का दायित्व

साहित्यकार अपने युग का दर्पण होता है। समाज का वास्तविक चित्र ...की रचनाओं मे दिखता है। वस्तुतः साहित्यकार अपने युग का न केवल ...क दर्पण है बल्कि एक ऐसा मार्गदर्शक है जो युग को सही मार्ग प्रशस्त करते ...ए उसे वास्तविक दिशा-बोध कराता है। शरीर तथा भौतिक समृद्धि का ...र्माण अन्य बाह्य साधनों से तो सम्भव है, कानून की परिधियाँ भी राष्ट्र ... अन्य निर्माणों की दिशा मे सहायक हो सकती हैं, लेकिन मन का निर्माण ...ाहित्य के माध्यम से ही सहज, सुलभ और सम्भव होता है। मन निर्माण के ...लये राष्ट्र-चेतना और राष्ट्र-बोध अत्यन्त आवश्यक है और इस काम का ...ितना सही फल साहित्यकार देता है कोई अन्य विधा नहीं दे सकती। ...ाहित्य से व्यक्ति के चरित्र-निर्माण पर प्रभाव द्वारा तो समाज पर इसका ...सर पड़ता ही है वैसे ही समग्र रूप में साहित्य का समाज पर सम्पूर्ण प्रभाव ...ोता है। संसार में जितनी महान क्रांतियाँ हुई है वे सब साहित्य के द्वारा ... हुई हैं। क्रांति का वास्तविक अर्थ होता है, जीवन-मूल्यों में परिवर्तन। ...क व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था की ओर संचरण। चन्द्रगुप्त का एकछत्र ...ाज्य चाणक्य के अर्थशास्त्र का ही परिणाम था। नेपोलियन बोनापार्ट के ...तृत्व में फ्रान्स का विशाल साम्राज्य रूसो के क्रांतिकारी विचारों का ही ...रिणाम था। साम्यवाद का प्रसार मार्क्स के दास कैपिटल का ही परिणाम ...ै। जर्मनी के विकास एवं द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण नीत्से के ही विचार ...े और भारतीय स्वाधीनता की भावना का जन्म महात्मा गांधी तथा ...तत्कालीन अन्य विचारकों, भगवान तिलक तथा और दूसरे अनेकानेक लेखकों, ...विचारकों और साहित्यकारों के ही विचारों का ही परिणाम था, जिससे ...जनमानस न केवल प्रभावित हुआ, उद्वेलित हुआ और सम्पूर्ण भारत एक ...राष्ट्र के रूप मे स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रस्तुत हो गया। रूस की

का श्रेय यदि हम सामान्य रूप से लेनिन को देते हैं तो वहाँ गोर्की और टालस्टाय को इस विचारधारा के निर्माण और इस जनमानस के निर्माण के लिए निश्चित महत्व दिया जावेगा। इसी के कारण ऐसी परिस्थितियाँ बनी या बनाई गईं जिससे क्रांति सहज और सम्भव हो सकी। प्रत्यक्ष रूप से भारतवर्ष के स्वतंत्रता संग्राम में यहाँ के कार्यकर्ताओं ने, सेनानियों ने, सहस्त्रों लोगों ने अपने प्राण मिटाये लेकिन उनके मन को उस दिशा में तैयार करने के लिये रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिमचंद, प्रेमचन्द, सुभद्रा कुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त तथा पं० सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी तथा इस प्रकार के अनेकानेक लेखकों और साहित्यकारों का योगदान कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। राष्ट्रीय सन्दर्भ तथा उसकी नयी मन्जिलों से हटकर साहित्यकार का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। वास्तव में राष्ट्र की जो भौतिक उपलब्धियाँ हैं, राष्ट्र को जो दिशा प्रदान करने का काम है, वह प्रत्यक्ष कार्य में लगे हुए मैदानी कार्यकर्ता ही करते हैं और उनके मानस को तैयार करने का काम निस्सन्देह साहित्यिक लेखक और विचारक ही करते हैं। आज भारतवर्ष में सबसे बड़ी आवश्यकता है राष्ट्रीय चेतना की। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन २९-३० मई, १९७६ को दिल्ली में हुआ। मुझे अच्छी तरह से स्मरण है उस समय हमारे देश के प्रधानमन्त्री ने सभी कार्यक्रमों के ऊपर सर्वोपरि महत्व दिया था राष्ट्रीय चेतना (नेशनल फिटनेस) को। जब तक लोगों को यह चेतना नहीं होती कि जो कार्यक्रम दिया जा रहा है उस कार्यक्रम को मानसिक रूप से सही अर्थों में उसे अंगीकार करें, तब तक जो भी कार्यक्रम तैयार करें, हम उसे दिशा देने का भी प्रयास करें, यदि हमारे मानस में कहीं कोई त्रुटि है, कहीं कोई दोष है तो वे कार्यक्रम अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार जो उसका अभीष्ट लक्ष्य है उस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये आज इस नये सन्दर्भ में जबकि हम न केवल विकास के लिये प्रयत्नशील हैं बल्कि एक निश्चित विचारधारा के अन्तर्गत अपने राष्ट्र के निर्माण की उस मन्जिल को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हैं, जिसमें गरीबी नहीं, खुशहाली हो, जिसमें विषमता न हो, जिसमें *सबको न्याय मिल सके, विपन्नता न हो, जिसमें सब को रोजगार मिल सके।* यदि एक सक्षम शक्ति सम्पन्न खुशहाल राष्ट्र बनाना है और वह भी नये रास्ते से, शांति और अहिंसा के रास्ते से, जिसमें प्रजातंत्र हो, जिसमें समाजवाद हो, जिसमे धर्म-निरपेक्षता हो तब इस दिशा में चिन्तन की तीव्र आवश्यकता है।

आज हमारे राष्ट्र ने इन लक्ष्यों को स्वीकार किया है चाहे वह किसी भी विचारधारा का मानने वाला हो, चाहे किसी पक्षगत विचारधारा पर आस्था रखने वाला हो किन्तु पूरे राष्ट्र की पूरी एक राय यही है कि हमे समाजवाद, प्रजातंत्र और धर्मनिरपेक्षता के रास्ते से आगे बढ़कर राष्ट्र का निर्माण करना है। एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना है जो ससार मे अपना एक अनोखा गौरवशाली स्थान बना सके। तो फिर क्या हम इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए अपनी विधायिका के माध्यम मात्र से ही उन्हें पूरा कर सकेंगे ? निश्चित रूप से आज के इन नये सन्दर्भों में लेखकों एवं साहित्यकारों का दायित्व बढ़ गया है। हमें अच्छी तरह से स्मरण है कि जिस समय पूरे भारतवर्ष में स्वतंत्रता संग्राम का आन्दोलन पूरे जोश पर था, श्यामलाल पार्षद एक बहुत छोटा सा कवि था, लेकिन उसकी कविता ने पूरे राष्ट्र को झकझोर कर के रख दिया था और आज भी उनका गीत "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा" जन-जन का गीत है। जब तक हम गाँवों के खेतो-खलिहानो मे, झोपड़ियों मे, पगडंडियों मे रहने वाले, बसने वाले बहुत साधारण छोटे इंसानों को झकझोरेंगे नहीं, उनके जनमानस को हम तैयार नही करेंगे तब तक राष्ट्र ने जो एक बहुत बड़ा लक्ष्य अपने सामने रखा है उस लक्ष्य को एक थोड़े समय के भीतर पूरी प्रतिबद्धता के साथ में, सिद्धान्त निष्ठा के साथ में पूरा करना दुष्कर एवं कठिन काम होगा। पिछले दशाब्दियो मे हमने अनुभव किया कि एक ओर जहाँ राष्ट्र, विकासशील नीतियों द्वारा गरीबी को दूर करने का आह्वान करता रहा, नये-नये क्रांतिकारी और प्रगतिशील कानून बनाये जाते रहे, वहीं दूसरी ओर जो प्रबुद्ध साहित्यकार हैं, जो गतिशील साहित्यिक हैं वे अपेक्षाकृत उदासीन रहे। जनमानस के पास पहुँचने की उसकी स्थिति कुंठित थी और ऐसे दूसरे तथाकथित साहित्यकारों ने मंच पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ये ऐसे साहित्यकार थे जो यथार्थ की अपेक्षा कल्पनालोक में अधिक विचरण करते थे। साहित्यकार ऐसे थे जो समाज में कुंठा और असन्तोष को न केवल जाग्रत करते थे बल्कि उसका नेतृत्व करते थे। जो प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील साहित्यकार हैं, जिन्हें समाजवाद, प्रजातंत्र पर सम्पूर्ण आस्था है वे साहित्यकार अपने को पंक्ति मे पीछे और अपने आपको पिछड़ा हुआ अनुभव करते हैं। आज इस बात की जरूरत है कि हमारे ऐसे साहित्यकार जो देश मे एक बहुत बड़ी संख्या मे हैं, और जिनके मन मे सम्पूर्ण आस्था है नये संदर्भों, नये परिवर्तन, नयी क्रांति के लिये, नये

मूल्यो की स्थापना के लिये, जिनके मन मे व्याकुलता है, जिसने न सिर्फ अपने आप को राष्ट्रीय सदर्भो से जुड़ा हुआ देखा है, पाया है और आज के परिस्थितियो मे दुःख को भोग रहा है और उन दुःखों को हटाने के लिए बेचैन है, उन साहित्यकारों को सामने आना होगा। हमारा साहित्य अब ड्राइंग रूम में नीली बत्तियो की शोभा बढ़ाते हुए काफी की चुस्कियों के बीच में, अपने मानसिक संत्रासों के कुंठाओं को अभिव्यक्त करने का मार्ग साधन न बने बल्कि वह ग्रामोन्मुख बने। लोकगीतों, लोक नृत्यों के माध्यम से उन साहित्यकारो की, उन कवियो की वाणी मुखरित हो। जिस प्रकार से काजी नजरुल इस्लाम ने बगला देश में क्रांति का एक नया शंखनाद किया और जिस प्रकार से हमारे अन्य जन कवियों ने लोगों को प्रेरित करके जाग्रत किया जिससे इस देश में जो संभाव्य था वह शीघ्र संभव हो सका। आज आवश्यकता है इस बात की जब देश के हमारे महान नेता, बड़े नेता संसद के माध्यम से, कानून और विधि विधानो के माध्यम से तथा अन्य बाह्य उपकरणों और बाह्य साधनों के माध्यम से देश को संवारने का काम कर रहे हैं, देश को आगे बढाने का काम कर रहे हैं, तब निश्चित रूप मे एक ऐसी बड़ी शक्ति मे, ऐसी बड़ी तादाद मे, विपुल संख्या मे, गाँव-गाँव के विकास-खण्डों में, जिला स्तरों पर, राज्य स्तर पर तथा सम्पूर्ण देश स्तर पर हमारे लोक कवि, लेखक, विचारक जन जागरण दूत बनें। गाँव-गाँव में एक नयी जागृति, नयी चेतना, नये राष्ट्रबोध की मशाल लेकर जुट जायँ, ताकि जो विचारधारा हम चाहते हैं कि लोगो के और दिलों दिमाग में छाये, जिससे कि राष्ट्र का सही अभ्युथान हो, जिससे कि सही विचारधारा शीघ्र ही प्रस्थापित हो और हम करोड़ों भारतवासी के लिए जनसामान्य की मन की आकांक्षाओं को पूरा करने की दिशा मे समर्थ हों, सफल हों।

तन्त्र-मन्त्र और ज्योतिष मेरी दृष्टि में

मैं मूलतः गांव का निवासी हूं। गांव में ही पला, बढ़ा तथा शिशु, किशोर एवं युवावस्था गांव मे ही व्यतीत हुई। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले के अन्तर्गत बिलासपुर से पश्चिम की ओर तखतपुर नाम के विकास खण्ड मुख्यालय से लगभग १४ मील दूर उत्तर-पश्चिम की ओर अनेक नाले एवं नदियों को पार कर हमारे गांव तक पहुँचा जा सकता है। आज तो लोरमी होकर पक्की सड़क हो गई है किन्तु मेरे कॉलेज की शिक्षा पूरी होने तक, केवल बिलासपुर से तखतपुर तक ही पक्का रास्ता था, बाकी पैदल चलकर या घोड़े से ही सवारी की जा सकती थी। यहाँ के ग्रामीण जीवन की अनेक अनुभूतियाँ मेरे जीवन के संस्कारों के साथ जुड़ गई हैं। इन अनुभूतियों में एक अनुभूति भूतप्रेत एवं जादू-टोने की है।

भूतप्रेत या जादू-टोने पर विश्वास की भावना ग्रामीण जगत में गहराई तक व्याप्त है। वहाँ के लोग इसे भय एवं आस्था के कारण मान्यता देते हैं। बरसात की काली घनी रात में चलकर, जब एक गांव से दूसरे गांव जाना होता था तो नदी किनारे के झाड़ों पर लगातार एक साथ जलते हुए जुगनुओं को देखकर मेरे साथी कहते थे कि इस झाड़ पर भूत का निवास है, और इसलिये ज्यादा जुगनू एक साथ इस वृक्ष पर झूम रहे हैं। घनी अमराईयों में अक्सर श्मसान भूमि हुआ करती थी। वहाँ भूतों का डर बताया जाता था। अनेक बार किसी न किसी कारण से हमें इन अमराईयों के नीचे से गुजरना पड़ता था। उस समय आगे-पीछे जितने चलने वाले लोग होते थे, दम साधकर मन ही मन हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए आगे बढ़ते थे। मेरे गांव के पश्चिम में फुलवारी नाम का एक नाला पड़ता था जिसके कगार पर मुसलमानों का कब्रिस्तान था। उसके समीप ही नाले ने एक झरने का रूप ले लिया

है। प्राकृतिक एवं आकर्षक स्थल होने के कारण यह स्थान मुझे सदैव प्रिय रहा है। कॉलेज की छुट्टियों मे, जब मैं गाँव जाता था तब अक्सर निर्जन दोपहरियों में, संध्या या सूर्यास्त के बाद भी बहुत रात तक इस झरने के पास बैठा चिन्तन तथा भावलोक के जाने कितने ताने-बाने बुना करता था। रात में कभी-कभी ८ और ६ बज जाया करते थे। इस झरने के पास से बस्ती के भीतर आने के बीच मे वह कब्रिस्तान पड़ता था। कभी-कभी वहाँ किसी नयी कब्र पर दिये जलते हुए दिखाई पडते थे। कभी-कभी किंचित् भय, आशंका और रोमांच जरूर महसूस होता था लेकिन झरने का आकर्षण मुझे जाने किस चुम्बक शक्ति से खींच कर अपने पास बुला लेता था। लगातार कम से कम ५-६ वर्ष तक मैं उस निर्जन स्थान पर जाता रहा। घन्टों वहाँ बैठता, उस समय की लिखी हुई मेरी कविताओं का यही सृजन स्थल था। कॉलेज जीवन के बाद बिलासपुर जिले के सभी अंचलो के लगभग एक हजार गाँव में पैदल चलकर जाने का भी अवसर मुझे प्राप्त हुआ, जिसमे देर-सबेर तथा आधी रात एवं दिन-दिन भर चलने के अनेक अवसर आये हैं। इस सफर में ऐसे भी स्थान मिले जहाँ वर्षों से यह मान्यता चल रही थी कि किसी स्थान पर या तो देवी-देवता होते हैं या भूतप्रेत होते हैं। मैं चाहता था, हालांकि भय भी होता था कि किसी प्रकार के भूतप्रेत या देवी-देवताओं का एकाध बार भी साक्षात्कार होने का मौका मिले, लेकिन मालूम नही या तो भूतप्रेत होते ही नही अथवा मेरा दुर्भाग्य रहा कि जीवन के ५४ वर्ष पूरे करने के बाद भी एवं सूनसान स्थानो पर मरघटो मे अकेले रहने और जाने के बाद भी मुझे उनके दर्शन नसीब नही हुए।

एक बार जब मैं ८-१० वर्ष का था, तब की एक घटना स्मरण है। एक प्रौढ़ा महिला (जाति की छिपिया) थी, हमारे घर के पीछे रहती थी। दोपहर के समय जब वह घास काटकर लौटी तब पागल जैसी हो गई। वह अनाप-शनाप बकने लगी तथा हाथ-पैर पटकने लगी। उस समय हमारे गाँव में प्राथमिक स्कूल नही था। अपने गाँव से २ मील के फासले पर रानीडेरा नाम के एक गाँव मे हम लोग पढने जाते थे। दोपहर को स्नान एवं भोजन के लिये वापस आकर शाम को फिर जाते थे। दोपहर को जब लौटे, तब मालूम हुआ कि सुन्दरबाई को भूत ने पकड़ लिया है। कौतूहलवश मैं भी गया। एक मंत्र पढ़ने वाले सज्जन (जिनको छत्तीसगढ़ में बैगा कहा जाता है) भूत उतारने की

कार्यवाही मे लगे थे। इस प्रक्रिया मे जहां उस महिला पर घड़ों से पानी डाला जाता था, वहीं इमली की कोमल छड़ियां बनाकर उससे उसकी पिटाई भी की जा रही थी तथा मुंह से कुछ मन्त्र का उच्चारण हो रहा था एवं कन्डे पर धूनी जलाकर मिर्च का धुआं दिया जा रहा था। भीड़ तथा भूख के कारण मैं वहां ज्यादा ठहरा नही, लेकिन मालूम हुआ कि थोड़ी देर मे उसका भूत भाग गया था। पता नही ठण्डा पानी उडेलने के कारण अथवा गोजा से मार खाने या मिर्च के धुंए से भूत भागा अथवा मन्त्र और तन्त्र से। बताया जाता है कि कुछ दिन पहले, गांव मे एक पंजाबी मुसलमान आया था, उसकी औरत मर गई थी। उसी औरत ने उसको पकड़ लिया था। जिस पेड़ के नीचे वह घास काट रही थी तथा जहां प्रेत ने उस औरत को पकड़ा था उसके नीचे से रोज हम लोग दिन मे चार बार अवश्य निकलते थे। हमारे गांव और साथ वाले गांव के बीच मे एक मधु तालाब था, उसमे भी भूत का डेरा बताया जाता था। तालाब के पार से हम लोग निकलते थे तो सदैव भूत का डर बना रहता था किन्तु भूत हम पर मेहरबान था कि इच्छा होते हुए भी वह दर्शन नही दे सका।

छत्तीसगढ़ के गांव मे टोनही शब्द बहुत प्रचलित है। टोनही शब्द उन औरतों के लिये उपयोग मे किया जाता है जिन्होने तन्त्र विद्या से टोना करना सीख लिया हो तथा इसके द्वारा वह किसी भी स्वस्थ और अच्छे व्यक्ति को बीमार कर सकती हैं, सोते हुए व्यक्ति के छाती पर पतले धागे का सुराख लगाकर सारा खून पी सकती हैं। अक्सर गांव मे सुनने को आता था कि जब गांव मे कोई बीमार पड़े तो यह कहा जाता था कि फलानी टोनही ने टोना कर दिया है। कई-कई टोनही हैं, तथा किन्हें टोना करना मालूम है इस बात की काफी बड़ी चर्चा होती थी। ऐसे लोगो की नजरो से बचने की हर कोशिश की जाती थी। जब मैं बच्चा था तब की तो और बात है किन्तु अब जब मैं गांव जाता हूं तो खाने-पीने की कोई चीज मुझे दी जाती है तो मेरी मां इस बात की कोशिश में रहती है कि वहां की किसी प्रकार की औरतों की नजर खाते-पीते वक्त न लगे। एक बार जन्माष्टमी की रात में बहुत जोरों से पेट का दर्द हुआ। मुझे बताया गया कि किसी टोनही ने टोना कर दिया है। जब मैं उन्हें बताता था कि शाम को ५ बजे मैंने चावल के आटे की रोटी खाई है तब उस पर लोग ध्यान

नही देते थे। इस पर मैं मन ही मन क्रोधित होता था पर विवश था। छत्तीसगढ के गांव में टोनही की यह प्रथा और इस पर यह अन्धविश्वास इतना दृढ़ है कि आज भी सन् ८० की दशाब्दी में गांव-गांव टोने एवं मन्त्र पर लोगों का गहरा विश्वास है। अभी मेरे पास अपने ही गांव का एक फौजदारी मुकदमा विचाराधीन है। इसमें ८-१० व्यक्ति अपराधी हैं तथा उनका बचाव मैं कर रहा हूँ। इन पर आरोप ये है कि उन्होने एक महिला को टोनही करार देकर उसे इमली की कच्ची छड़ी से पीटा तथा जांघ पर खूब मारा एवं रात भर एक कमरे में बन्द रखा। यह अभियुक्त बहुत सीधे-सादे, अपढ ग्रामीण हैं तथा उनके पास गांव से बिलासपुर मोटर, बस मे भी बैठकर पैसे नही होने के कारण पैदल चलकर आते हैं। उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि उनमे से प्रमुख अपराधी की बहिन को उक्त तथा-कथित टोनही ने टोना सिखाने का काम अपने हाथ मे लिया तथा घर वालों के द्वारा मना किये जाने पर वह टोनही कुपित हो गयी, और उसने बहन को ही टोना कर उसे पागल कर दिया जिससे वह बाद मे मर गई। पुलिस तथा न्यायालय जादू-टोने को गलत करार देती है। आजकल के सभ्य एवं शिक्षित नागरिक मन मे रखते हुए इस जादू-टोने को अवैज्ञानिक करार देते हैं। मेरी भी मान्यता जादू-टोने के पक्ष मे नही है। लेकिन उसके बावजूद भी पूरे भारतवर्ष के सभी प्रदेशों मे, केवल गांव मे ही नही अपितु नगरों में भी अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोगो के बीच में तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोने के अंध-विश्वास की भावना समाप्त होने के स्थान पर दिन-प्रतिदिन और क्यों बढ़ रही है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। गांव के अशिक्षित तथा असभ्य लोगों को कुछ भी कहकर नकारा जा सकता है लेकिन बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोग, राज-नीति में ऊंचाईयों तक पहुँचे हुए लोग किसी न किसी तान्त्रिक के सहारे क्यों रहते हैं, यह तान्त्रिक नाना प्रकार के तन्त्र और मन्त्र से उनको आगे बढाते हैं या उनकी रक्षा करते रहते हैं। कलकत्ता की काली देवी, गोहाटी की कामाख्या देवी, पूरे आसाम, बंगाल और छत्तीसगढ़ के गांव-गांव में घर-घर जादू और टोने के किस्से मशहूर हैं तथा आजकल के युग मे नाना प्रकार के सन्त, ब्रह्मचारी, सदाचारी, बाबा अपने तन्त्र-मन्त्र के जरिये सीधे राजदरबार में प्रवेश करते चले जा रहे हैं तथा विज्ञान के इस जमाने में हमारे देश के राकेश शर्मा भले अंतरिक्ष मे उड़ान भर आये हों, लेकिन हमारे देश के उद्योगपति, लक्ष्मीपुत्र, शिक्षाविद् एवं राजनेता तन्त्र और मन्त्र की दुनिया मे उड़ाने भर

रहे हैं। अमरीका और राजस्थान के विद्यालय मे मृत्यु के बाद जीवन इस विषय पर अनेक शोध हुए हैं, तथा ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा इनको एक नये नाम से पुकारने का सिलसिला शुरू हुआ है जिसे कि परामनोविज्ञान कहा जाता है। इसके अन्तर्गत यह मान्यता होती है कि मृत्यु के उपरान्त आदमी शरीर को छोड़ने के बाद भी उस समय तक भटकता रहता है, तथा उस भटकाव की स्थिति मे ही असतुष्ट आत्मा भूत और प्रेत बनकर आचरण करती है तथा समाप्ति काल पर पुनर्जन्म किसी मानव शरीर या अन्य योनि में उसका हो जाता है। इस प्रकार की मान्यता का वैज्ञानिक धरातल कहाँ तक सच एवं सार्थक हुआ है कहा नहीं जा सकता, तथापि विभिन्न उदाहरण देकर तर्कों की निष्पत्ति की जाती है। चूंकि इस प्रकार की घटना अमुक-अमुक स्थान पर हुई है अतएव यह घटना सत्य है तथा इस सम्बन्ध मे जो तर्क और कारण दिया जाता है उन्हें भी इन तर्कों के कारण भी सत्य बताया जाता है। इस प्रकार की रूढि भावनाएँ भारतवर्ष के बाहर बड़ी संख्या मे हैं। इस प्रकार की मानसिकता का आधे से ज्यादा अंश इन रूढ़ियों एवं अन्य विश्वासों पर घिरा रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि जादू या टोना नही होता। किन्तु नजर का प्रभाव प्रखर एवं कोमल होता है। कुछ लोग तन्त्र साधना मे मन की स्थिरता, दृढ़संकल्प और आत्मविश्वास की महत्ता को ही अधिक श्रेय देते हैं और यह कहते हैं कि तन्त्र का साधक अपने तत्र और तन्त्र के बल पर इतनी मानसिकता, दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं कि फिर -वह जो चाहते हैं वही कर सकते हैं। इस प्रकार के लोगों के बीच रहने का मुझे अवसर तो नही आया है, किन्तु मन्त्र के सम्बन्ध में एक घटना मुझे अवश्य याद आ रही है।

सन् १९६४ की फरवरी का एक प्रसंग याद आता है। सन्त विनोबा भावे का बिलासपुर जिले में पदयात्रा का कार्यक्रम चल रहा था। बिलासपुर जिले की मुगेली तहसील के पाडातराई के गाँव मे उस दिन उनका अन्तिम पड़ाव था। सन्ध्या ४ बजे कुछ बादल आकर हल्की बूँदा-बाँदी हो गई थी। एक आम के बगीचे के नीचे विनोबा जी की सभा मे उनका प्रवचन समाप्त हुआ था तथा वे अपने शिविर पर जा चुके थे, भीड भी छँट गई थी। विनोबा जी के स्टेनो, जो उनके भाषण को शीघ्रलिपि मे लिखते थे तथा केरल के निवासी थे, वही थे। मैं भी सभा-स्थल पर ही था। थोड़ी देर में यह

३

स्टेनो चीखने-चिल्लाने लगा तथा उसने बताया कि उसको बिच्छू ने डंक मार दिया है। पैर के अँगूठे मे डंक लगा था तथा वह अपना पैर पकड़कर चिल्लाने लगा तथा रोने लगा एव बताया कि किस प्रकार से जहर उसके शरीर में बढ-चढ रहा है। विनोबा जी की पदयात्रा टोली के साथ एडीशनल सिविल सर्जन श्री गुप्ता जी मोबाईल वान लेकर चल रहे थे। उन्होने फौरन इन्जेक्शन देने के लिये पानी गरम करने को कहा। उसी बीच पांडातराई गाँव के एक आदमी ने आकर कहा कि वह इस गाँव के एक व्यक्ति को जानता है जो मन्त्र से बिच्छू का जहर उतारता है। डा० गुप्ता जी तथा अन्य लोगो ने उसका मजाक उडाया। उसने कहा तो उसे बुला लेने मे क्या हर्ज है, उससे कुछ नुकसान होना है नही। आखिर मे बिच्छू के जहर उतारने वाले उस व्यक्ति को बुलाया गया। मैं वही पर था। एक अधनगा व्यक्ति शरीर मे जो एक पटकू पहने हुआ था उस पटकू के एक छोर को ऐंठकर मन्त्र पढता था तथा तीन बार उसे अपनी उंगलियों पर झटकता था। जब वह अपने कपडे को ऐंठता था तब वह स्टेनो भी ऐंठने लगता था और हर बार झटकने के बाद स्टेनो यह कहता था कि उसका जहर नीचे उतर रहा है तथा तीसरे बार वह रोता हुआ स्टेनो, जिसकी आँखों में आंसू थे, मुस्कराने लगा। उसके मुँह से निकले हुए शब्द मुझे याद हैं जबकि उसने यह कहा था कि 'कमाल' है। मैं यह नहीं समझ पाया कि जादू-टोने सब गलत हैं तो यह घटना जो मेरे सामने घटी, जिसमें मन्त्र के द्वारा बिच्छू का जहर उतारा गया वह कैसे और क्यों हुआ ? वैसे तो साँप के जहर उतारने के भी अनेक किस्से बताए जाते हैं। एक-दो साँप के जहर उतारने के प्रयोग मेरे सामने भी हुए हैं, लेकिन उसको प्रामाणिक तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि उससे साँप का जहर उतर गया, क्योंकि साँप यदि जहरीला नहो है तो जहर उतारने और नहो उतारने का कोई विशेष मकसद नही होता। इन दिनों इन बातों को जितना दूर करने का प्रयास किया जा रहा है, सारी वैज्ञानिकता के बाद भी रूढियों की हमारी मानसिकता घटी नही बल्कि बढी है तथा राजनीतिज्ञों के द्वारा भी इसे नये सिरे से प्रश्रय प्राप्त हुआ है। जहाँ तक ज्योतिष का सम्बन्ध है मैं अपने बारे मे यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि किसी भी प्रकार की ज्योतिष की भविष्यवाणी मेरे साथ नही हो पाई। सन् १९६७ मे मैंने पहली बार काँग्रेस की टिकट पर विधान-सभा का चुनाव लड़ा। उस समय तत्कालीन ख्यातिप्राप्त एवं प्रतिष्ठित ज्योतिषो ने मेरे पिता को यह लिखकर दिया था कि मुझे चुनाव नहीं लड़ना

चाहिये। चुनाव मे विजय प्राप्त करने की कोई संभावना नही है तथा मार्केष का योग भी है जिससे मृत्यु हो सकती है। माता-पिता की इकलौती सन्तान होने के कारण उन्हें बड़ी चिन्ता थी, तथा चुनाव लड़ने के लिये वे बार-बार मना करते रहे। जाहिर है कि चुनाव हुए, मैं लड़ा और विजयी भी हुआ तथा किसी भी प्रकार का कोई खतरा नही आया। इसी प्रकार की एक दूसरी घटना सन् १९७३ में हुई जबकि मुझे विश्व शांति सम्मेलन के लिये मास्को जाना था। मेरे घर पर अनायास दक्षिण भारत के एक ज्योतिषी आए जिन्होने मेरी जन्म-पत्री देखकर यह बताया कि मैं किसी भी हालत मे विदेश नही जा सकता था। मेरे मन मे चिन्ता समा गई। मैंने ३,२०० रुपये पहले ही जमा कर दिये थे। पासपोर्ट लखनऊ से मिलता था, जिसके न आने के कारण मैंने एक व्यक्ति को अलग से लखनऊ भेजा तथा स्वयं दिल्ली चला गया। जाने के दिन तक वह सज्जन नही आए तो मुझे प्रतीत हुआ कि ज्योतिषी की भविष्यवाणी सही निकलेगी। किन्तु उसी समय शान्ति एवं एकता के महासचिव ने कहा कि वह एक अस्थाई पासपोर्ट दिल्ली से बनवा देंगे जो कि उन्होंने बनवा भी दिया। रात १० बजे फिर बताया गया कि वीसा के लिये ३ पासपोर्ट साइज फोटो की आवश्यकता है। वह फोटो मेरे पास थी नही तथा रात १० बजे और इतवार का दिन होने के कारण तत्काल फोटो का उतार पाना भी संभव नही था। मेरे पास तीन अलग-अलग साईज के अलग-अलग मुद्रा की फोटो थी जो मैंने महासचिव महोदय को दिया। उन्होंने बताया कि अनुमति मिलने की संभावना प्रतीत नही होती। १२ बजे रात को प्लेन के उड़ान भरने का समय था। मैं हवाई अड्डे पर महासचिव की प्रतीक्षा करता रहा। लगभग डेढ बजे वह वहाँ आए और उन्होंने बताया कि मास्को के लिए वीसा की अनुमति मिल गयी है। तदुपरान्त जब हवाई जहाज पर जाकर बैठा तो यह बताया गया कि मशीन की खराबी के कारण हवाई जहाज उड़ान नही ले पा रहा है। फिर मुझे चिन्ता हुई कि शायद ज्योतिषी की बात सच निकले। लेकिन लगभग ५ बजे प्रातः हवाई जहाज ने उडान लिया और रूस की यात्रा सकुशल कर मैं वापस आया। उसके बाद एक दूसरी घटना सन् १९७६ में हुई जबकि जिला प्रतापगढ़ (उत्तर प्रदेश) के एक ज्योतिषी महोदय यहाँ पहुँचे। वे बिलासपुर के बड़े चिकित्सक के यहाँ यज्ञ अनुष्ठान करा रहे थे। उन्होंने मेरी जन्म-पत्री देखी और उसके दो दिनो बाद यह कहा कि उनकी भृगुसंहिता मे मेरा जन्म और ज्योतिष-

फल लिखा हुआ है। उन्होंने मुझसे ५० रुपये लेकर इसे पढ़कर सुनाया। उसके अनुसार सन् १९७६ से लेकर सन् १९८२ के बीच मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी थी। इस संकट से बचने के लिए उन्होंने भृगुशास्त्र के द्वारा ९ दिन का अनुष्ठान करने तथा पांच तोला सोना एव पांच हुजार दान में देने के लिये कहा। इस हेतु मैं तैयार नहीं हुआ। पंडितजी बड़े क्रोधित हुए। सन् ८२ बीत चुका है तथा भृगुसंहिता की भविष्यवाणी उनकी घोषणा के अनुसार सही नहीं उतरी। इस प्रकार की ऊलजलूल और नाना प्रकार की भविष्यवाणी और ज्योतिष से हमारे देश के लोग नाना प्रकार के मानसिक ग्रंथियो से ग्रस्त रहते हैं तथा काल्पनिक ग्रन्थियों से मुक्त होकर मुक्त मन से नहीं रह सकते। बुरे भविष्य फल का डर ही उन्हें छाये रहता है तथा अच्छे भविष्य फल से आदमी अपने कर्तव्यों के प्रति लापरवाह हो जाता है। अपनी स्थिति मे उसे हानि होती है तथा पूजा-पाठ अनुष्ठान कराने वालों की दुकानदारी खूब चलती है। इस प्रकार के ठगों तथा भविष्यवक्ताओं के द्वारा न मालूम कितने युवक-युवतियाँ, राजनेता, अफसर, व्यापारी रोज ठगे जाते हैं। जरूरत इस बात की है कि इसकी भी प्रामाणिकता की शोध की जाए। विषय को टालने के बजाय उसे समझने की जरूरत है। परामनोविज्ञान एवं ज्योतिष दोनो का वैज्ञानिक धरातल पर समीचीन अध्ययन एवं शोध आवश्यक है। इस विशिष्ट अध्ययन द्वारा सत्य-असत्य का निवारण होने से आम जनता ही नहीं, शिक्षित विशिष्ट वर्ग भी वर्तमान असत्य, ठगी तथा प्रवंचना से बच जायेगा।

सहकारी आन्दोलन चुनौती के दायरे में

स्वतन्त्रता प्राप्ति के ३ दशक समाप्त कर चौथे दशक से हम गुजर रहे हैं। इस बीच हमारे देश के प्रजातान्त्रिक एवं समाजवादी ढाँचे मे सहकारिता आन्दोलन का योगदान अभिन्न रूप से जुड गया है। वैसे तो सन् १९१२ में पहिला सहकारी कानून अंग्रेजो के जमाने में ही देश मे लागू हुआ। ब्रिटिश शासन काल से ही किसी न किसी रूप मे सहकारी जगत में साख के कार्य तथा अन्य कार्य किये जाते रहे हैं, किन्तु स्वतन्त्र भारत मे पंचवर्षीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में सहकारी क्षेत्र का विस्तार निरन्तर बढता गया तथा उसका आकार एवं स्वरूप भी व्यापक होता गया। आज देश अथवा प्रदेश मे सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसमे सहकारी कार्य पद्धति का समुचित प्रवेश न हो।

हमे यह समीक्षा करनी है कि क्या सहकारिता का माध्यम एवं सहकारी आन्दोलन उस स्वरूप को प्राप्त हो चुका है अथवा यथेष्ट रूप मे गतिमान है जिसकी कल्पना समाजवादी समाज की स्थापना के लिये हमारे राजनैतिक चिन्तकों एवं विचारकों ने की है ? यह ठीक है कि ब्रिटिश शासन काल के समय चन्द वैभव एवं समृद्धि का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के लिये सहकारिता से उन्हें किंचित मानसिक बदलाव का सुख या उनकी लोकेष्णा शमन अथवा अवकाश के क्षणों का उपयोग प्रतीत होता रहा, लेकिन वह कार्य सामाजिक बदलाव एवं आर्थिक क्रान्ति का कार्य नही था। आज भी हम यह घोषित करते हैं कि हमारे देश ने जब एक तरफ प्रजातन्त्र को स्वीकार किया है तथा दूसरी तरफ समाजवाद लाने के लिये हम कृतसंकल्प हैं तब उसकी संभावित प्रक्रिया का कार्य सहकारिता का ही है। इसमे नागरिक पुरुषार्थ के माध्यम से स्वेच्छित रूप से आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन किया जा सकता है। सहकारिता के क्षेत्र में पूरे देश में बहुत बड़ी पूंजी का अरबों और खरबो मे विनियोजन हुआ है तथा विभिन्न क्षेत्रों मे सहकारिता के माध्यम से कार्य किया जा रहा है। कहा जाता है कि पूरे देश में १२ करोड़

लोग सहकारी क्षेत्र के सदस्य के रूप में किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। जिस देश मे किसी आन्दोलन के लिये दीक्षित एवं अनुप्राणित सदस्यो की सख्या १२ करोड हो वह आन्दोलन आज व्यावहारिक जगत में इतना असहाय और विकलांग प्रतीत हो, यह बात विवेक की तुला पर सही नही उतरती। इतनी विशाल जनशक्ति के माध्यम से पूरे देश के नक्शे को बदला जा सकता है। देश का नया भाग्योदय हो सकता है तथा उस देश की राजसत्ता भी इस आन्दोलन के अधीनस्थ ही रह सकती है। इसलिये ऐसा लगता है कि हम सहकारी आन्दोलन के बाह्य कलेवर तथा उसके संगठन की रूप-रेखा एवं भौतिक पक्ष को ही देखते हैं, यह नही देख पा रहे हैं कि वस्तुतः यह आन्दोलन, जन सामान्य के कितने निकट है तथा जीवन को छूती हुई समस्याओं के निराकरण के लिये कितना सार्थक एवं सक्षम है। इस सम्बन्ध मे एक-दो बातों पर विचार करता है।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय स्तर से लेकर प्रदेश स्तर पर यह देखना आवश्यक है कि शासन के जितने विभिन्न विभाग हैं उनमे सहकारिता का बजट अत्यधिक कम है। अनेक बार विधायिकाओ मे सहकारिता के बजट पर चर्चा न होकर, उसका गुलेटिन ही हो जाता है। मितव्ययिता से नाम पर यदि किसी भी विभाग के बजट मे कटौती होती है तो सबसे पहिला नम्बर सहकारिता विभाग का ही होता है। दूसरी बात यह है कि पिछले ३३-३४ वर्षों से सहकारिता आन्दोलन को जन स्वावलम्बी बनाने के बजाय उसे शासन के सहकारी विभाग का मुखापेक्षी आन्दोलन ही बना दिया गया है। दुनिया के संभवतः किसी दूसरे देश में सहकारिता का कार्य शासकीय विभाग के गोद का खिलौना कभी नहीं रहा। इस दिशा मे हमें बहुत मजबूती और साहस के साथ सोचना और निर्णय लेना होगा।

कहा जाता है कि सहकारी आन्दोलन पक्षातीत है तथा सहकारी मंदिर में प्रवेश करने के पूर्व राजनीति के जूते बाहर ही रखे जाना चाहिये। सहकारी आन्दोलन को राजनीतिज्ञों के वहम एवं उमंग का नरक नही बनाना चाहिये, किन्तु प्रत्यक्ष कार्यों मे ऐसा लगता है कि पग-पग पर इसका उपयोग होता है। यही कारण है कि यह आन्दोलन अपना स्वतन्त्र स्वरूप नही ले पा रहा है एवं अभी भी सहकारी आन्दोलन सर्वथा विकलांग स्थिति में परमुखापेक्षी रह गया है। रजिस्ट्रार के विभाग की भूमिका मित्र, दार्शनिक

एवं मार्गदर्शक के रूप में कितनी है तथा कठोर एवं कुटिल चौकीदार के रूप में कितनी है यह प्रश्न बड़ा अहम है। दूसरी बात जो सबसे जबरदस्त है, वह है राजनीति के समान सहकारी क्षेत्र में भी पेशेवर सहकारी नेतृत्व का साम्राज्य व्यापक हो गया है तथा परस्पर अवलम्बन एवं परस्पर सहयोग की नीति के आधार पर काम करते हुए ये उन जन सामान्य को जो अपने हाथ में क्रान्ति की मशाल लेकर कसमसा रहे हैं, पीछे ढकेलने में सर्वथा समर्थ हो जाते हैं। सहकारिता में व्यवस्था एवं नागरिक पुरुषार्थ दोनों का समुचित समन्वय होना चाहिये। कई बार ऐसा लगता है कि प्राण-तत्व समाप्त हो जाने के बाद भी अन्य विभागों के समान व्यवस्थाशाही ही सहकारी संस्थाओं में हावी हो जाती है तथा जन-आकांक्षाएँ एवं लोक-पुरुषार्थ कोसों पीछे रह जाता है। मानवीय संवेदनाओं का सहकारिता के क्षेत्र में ध्यान रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

हमारे देश में एक बड़ा विरोधाभास है कि हमारे संस्कार सामन्तवादी हैं, इच्छाएँ पूँजीवादी हैं और घोषणाएँ समाजवादी हैं। इस विरोधाभासी माहौल का ही परिणाम है कि सहकारिता का तमाम आन्दोलन, जो सड़क के आम आदमी के लिये अभिमन्त्रित एवं संचालित है वह आम आदमी सड़क पर खड़ा तमाशबीन बना रहता है और उसका नेतृत्व वे लोग करते हैं जिनका निषेध सहकारी आन्दोलन की परिभाषा में किया जाता है। साख का काम साहूकारों के हाथ में होता है तथा उपभोक्ता आन्दोलन व्यवसायिकों के हाथ में एवं कालोनाइजर आवास की समस्या पूरी करते हैं। वस्तुतः सहकारिता का आन्दोलन एवं उसकी आवश्यकता जिनके लिये हैं उन्हीं के हाथ में उसकी सत्ता, वर्चस्व एवं नेतृत्व होना चाहिये, वरना पहिले भी राय साहब और दीवान बहादुर सहकारी आन्दोलन के नेता हुआ ही करते थे। मध्य प्रदेश के सहकारिता विभाग के मन्त्री श्री मुनिप्रसाद जी शुक्ल अक्सर कहते हैं कि सहकारी क्षेत्र में तीन व्यक्ति ही काम कर सकते हैं। या तो वह बादशाह हो या फकीर या वह नंगा अथवा बदमाश हो। इन तीनों के अतिरिक्त साधारण मध्यम वर्ग के समाज अथवा निम्न आय वर्ग के लोगों के पुरुषार्थ का प्रादुर्भाव सहकारी आन्दोलन में अत्यधिक आवश्यक है और यह इसलिये संभव नहीं हो पाता कि अब सहकारी कार्य दया-भावना, या फुरसत के समय का काम न होकर पूरे समय का कार्य है और पूरा

दे पाना निम्न अथवा मध्यम आय के लोगों के लिये असम्भव होता है क्योंकि उसे तो नमक, तेल, लकड़ी का भी प्रबन्ध करना होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पूरा समय देकर उसका समुचित पारिश्रमिक प्राप्त करने मे कोई हेठी नही मानी जाती। मन्त्री एव जन प्रतिनिधि भी मान सेवी होते हैं, किन्तु उन्हें पूर्ण पारिश्रमिक प्राप्त होता है। वास्तव में सहकारिता क्षेत्र में मध्यम वर्ग के ईमानदार कार्यकर्ता, जिसे पूरा समय देना चाहिये वह दे नही पाता क्योंकि उसे पारिश्रमिक दिया जाना सहकारिता के नियमों के विरुद्ध है अथवा उसे ओछी नजर से देखा जाता है। इस पूंजीवादी एवं सामन्तवादी संस्कार का उन्मूलन जितनी जल्दी होगा सहकारिता के क्षेत्र मे सामान्य वर्ग के ईमानदार एवं पुरुषार्थी लोगों का प्रवेश बढ़ेगा, और तब यह आन्दोलन अभीष्ट रूप मे प्राणवान हो सकेगा।

सहकारिता के आन्दोलन में प्रशिक्षण एवं शिक्षा का अपना विशिष्ट महत्व एव दायित्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस दिशा में सभी लोगों ने अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। सहकारी संगठन के माध्यम से प्रशिक्षण का कार्य मात्र औपचारिकता के रूप मे ही है तथा शासन के स्तर पर भी उसके महत्व को सभवतः अभी तक हृदयगम नही किया जा सका है। होना तो यह चाहिए कि स्कूलों, कालेजों एव विश्वविद्यालयो मे सहकारिता का एक अलग विषय हो जो कुछ स्तर पर अनिवार्य भी रहे तथा जन प्रचार के माध्यम से यथा आकाशवाणी, पत्र-पत्रिकाओं, टेलीविजन एवं फिल्मो के माध्यम से इसकी पूरी और सही जानकारी बार-बार जन सामान्य को दी जावे। अभी ऐसा होना बाकी है। इस दिशा मे निश्चित रूप से चिन्तन की आवश्यकता है। एक बात और है। पार्लियामेंट मे तथा विधानसभाओ में सहकारिता की सशक्त लाबी का होना अत्यन्त आवश्यक है। वैसे तो सहकारी क्षेत्र मे कार्य कर रहे लोग पर्याप्त मात्रा मे विधायक एव सासद के रूप मे चुने गये है तथापि उनकी कोई लाबी नही है। अखिल भारतीय सहकारी सगठनों के अध्यक्ष भी सांसद लोग ही हैं, किन्तु सशक्त लाबी के अभाव मे वे अपनी पूरी बात और सही बात शासन तक पहुँचा सकने में असमर्थ रह जाते है। अतः इस दिशा मे भी सक्षम पहल की आवश्यकता है। उपरोक्त चन्द प्रश्न सहकारी क्षेत्रों के काम करने वाले लोगो के समक्ष इस आशय से प्रस्तुत किये गये हैं कि सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति के लिये

सहकारिता का कोई अन्य विकल्प नही है तथा परिस्थिति में विरोधाभास होने के बावजूद भी एवं सम्पूर्ण अनुकूलता न रहते हुए भी अनजाने मे भी सहकारिता आन्दोलन उभर कर सामने आ रहा है। इसलिये उसको सही स्वरूप एवं दिशा देने के लिये सही आधार एवं सही नेतृत्व की सही समय पर आवश्यकता है।

• •

धर्म, भगवान और आदमी

ईश्वर, भगवान, अल्लाह, खुदा, ईसामसीह या इसी प्रकार के और भी दूसरे नाम से पुकारे जाने वाली एक ऐसी शक्ति की कल्पना है जिसे दुनिया के लोग किसी न किसी रूप मे स्मरण करते हैं, पूजा करते हैं, या इबादत करते हैं। दूसरी तरफ इस दुनिया मे भागते-दौड़ते हुए सुबह से शाम और रात तक हजारों, लाखो और करोड़ो लोग अपनी जिन्दगी की मुसीबतो में घिरे हुए तथा भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये निरन्तर विषम स्थितियों मे संघर्षरत हैं। इन दोनों स्थितियों के बीच कैसा तालमेल है तथा उनके जीवन की परस्पर कैसी आवश्यकता है, इसको लोग सोच-सोच कर मर जाते हैं। कई बार यह सोचने के लिये मजबूर होना पड़ता है कि क्या इस ससार मे कोई हाथ पैर चलाने वाली आलौकिक शक्ति अथवा सब कुछ कर सकने वाली शक्ति से परिपूर्ण होकर भी चुपचाप तथा मौन रहने वाले इन्सानो के ऊपर कोई दृश्य या अदृश्य सत्ता है। क्या यह ताकत पूरे ससार मे सब जगह के लिये एक है अथवा अलग-अलग। हमारे देश हिन्दुस्तान मे हिन्दुओं के ३३ करोड देवता माने जाते हैं और भगवान के रूप मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा राम और कृष्ण आदि अनेक देवता हैं और उनकी पूजा की जाती है। उसी प्रकार से अनेक देवियाँ भी हैं। काली, दुर्गा, चामुण्डा तथा इसी प्रकार की और भी शक्ति पीठों मे यह देवियाँ आसीन हैं। भारतवर्ष मे ही हिन्दुओं के अलावा सिखों का एक अलग धर्म है जहाँ उनकी समझ के अनुसार ईश्वर का अलग स्वरूप है। कहने को बौद्ध धर्म और जैन धर्म निरीश्वरवादी हैं लेकिन स्थान-स्थान पर उनके धर्म के जिस प्रकार से मन्दिर बने हैं तथा मूर्ति स्थापित हुई है उससे साफ जाहिर होता है कि शब्दो और मान्यताओ मे ये धर्म निरीश्वरवादी हों किन्तु आचरण मे यह पूर्ण ईश्वरवादी हैं।

हिन्दुस्तान में रहने वाले मुसलमान तथा दुनिया के अन्य देशों में यथा पाकिस्तान, अरब, ईरान तथा और दूसरे देशों में उनकी कल्पनानुसार उनके खुदा या अल्लाह का एक अलग स्वरूप है तथा उसको मानने का ढङ्ग भी अलग है जिसमे उनके कई पैगम्बर होते हैं। इसी प्रकार से आधी से ज्यादा दुनिया में ईसाई मज़हब को मानने वाले हैं जिसमें उनके 'गॉड' का और प्रभु यीशु का एक अलग अस्तित्व है। कभी-कभी मन में यह शंका उठती है कि इस प्रकार से भगवान, खुदा या गॉड का किसी प्रकार का ये अजायबघर क्या वास्तविक है अथवा कुछ लोगों के मन का बनाया हुआ ख्याल ? और यदि इस प्रकार की कल्पना सही है तो क्या यह ३३ करोड देवता, खुदा, मोहम्मद पैगम्बर या ईसामसीह या ये तमाम लोग एक अकेले किसी स्थान पर रहते हैं और इन सबका वास्तव मे कोई अस्तित्व है ?

जब हम अपने पुराणों को पढते हैं अथवा अन्य धर्मग्रन्थों की व्याख्या करते हैं तब उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस दुनिया से अलग कोई एक लोक है जहाँ ये नाना प्रकार के ईश्वर रहते हैं। यह विचित्र कल्पना है। जिस प्रकार से मनुष्य के रूप मे इस धरती पर हिन्दु, मुसलमान, सिख, ईसाई अलग-अलग मजहब को मानने वाले रहते, चलते-फिरते हैं, उसी प्रकार से उनके भगवान या खुदा भी अलग कहीं रहते हैं। यदि यह सब एक साथ नहीं रहते तो क्या अलग-अलग अपने मजहब के मानने वाले लोगों के लिये अलग-अलग लोक बनाकर, अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं ? इन सब बातो को एक साथ सोचने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब एक कल्पना और मन की उड़ान है। इस संसार का बनाने वाला यदि कोई भगवान या खुदा जैसे नामो का अस्तित्व है (मेरे ख्याल से ऐसा नहीं है) तो यह अलग-अलग जाति और धर्म के लोगों की दुनिया बनाने वाला नही होगा। इस बात की कभी कल्पना नही की जा सकती कि हिन्दुओं को बनाने वाला कोई हिन्दु देवता होगे, मुसलमानो को बनाने वाला कोई मुसलमान देवता होगे, ईसाई को बनाने वाला कोई ईसाई देवता होगे। इस प्रकार के यदि भगवान और खुदा एक साथ हुए तो इस धरती के ऊपर धर्म और मजहब के नाम से खून-खराबी होती है उससे ज्यादा खून-खराबी इन धरती के बनाने वालों के बीच में होगा। सारी दुनिया में किसी भी देश मे किसी जाति के या एक ही मजहब के मानने वाले नही रहते। आजकल सा ज

सब मजहब को मानने वाले भी रहने लगे है। इन खुदाओ की हुकूमत क्या उनके अपने ही मजहब के ऊपर चलेगी या दूसरे मजहब के लोगो पर भी चलेगी ?

वास्तव मे विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वर सत्य है अथवा एक कल्पना। यह भी सोचना है कि क्या इस जोवन के लिये ईश्वर का होना अनिवार्य है ? क्या उसके बगैर इस संसार का काम नही चल सकता ? हम देखते चले आ रहे हैं कि कम से कम दुनिया के दो देशों मे जहाँ पहले ईश्वर या खुदा को माना जाता था अब वहाँ समग्ररूप से धर्म, पूजा-पाठ या मजहब को नकार दिया गया है। प्रगट रूप से जिन अर्थों मे ईश्वर की पूजा की जाती है उन अर्थों मे वैसा कुछ नही होता तथा पिछले ५० वर्ष से इन देशो मे वहाँ एक नया जीवन सुचारु रूप से चल रहा है। वहाँ कोई कठिनाई और अभाव उन्हें महसूस नही होता। ये देश है रूस और चीन। अगर ईश्वर हकीकत है तो इन देशो में पूजा-पाठ बन्द होने के बाद भारी प्रलय हो जाना चाहिये था तथा वहाँ के मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो जाना चाहिये था लेकिन देखने मे यह आ रहा है कि ये देश दुनिया के नक्शे मे और उभर कर सामने आ रहे है। आज के युग मे जिसे उन्नति कहते हैं उस उन्नति के रास्ते पर ये मन्जिल-दर-मन्जिल आगे बढ रहे हैं। उन देशो में जहाँ भगवान को किसी न किसी रूप मे जाना जाता है या पूजा जाता है वहाँ की स्थिति भी इन देशों से कोई ज्यादा भिन्न नही है। फिर वास्तविकता क्या है और ईश्वरत्व की कल्पना के पीछे तथ्य और सत्य क्या है इस पर विचार करना होगा।

आदिम युगों से मनुष्य का जब विकास हुआ तब वह वन्य प्राणियों के मध्य जगलो मे निवास करता था। उसे पानी, बरसात तथा अन्य जीव-जन्तुओं से नाना प्रकार का भय रहता था। उसके मन मे एक भय की भावना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये उत्पन्न हुई। उसकी इस भय और असुरक्षा की भावना ने ही अलग-अलग देश और काल मे अलग-अलग रूप मे देवी और देवताओं का रूप लिया। वे अपने आस-पास चारो तरफ प्रकृति और प्रकृति का प्रकोप देखते थे। शायद इसीलिये अपनी कल्पना के अनुसार उस देश के वातावरण और जलवायु आदि के आधार पर अपनी बुद्धि और

कल्पना के अनुसार उन्हें ईश्वर का मूर्त रूप देकर उसकी उपासना मे मानव जाति लग गई। अगर दुनिया के सारे लोग एक ही स्थान पर होते तो एक ही परिवेश, वातावरण तथा देश और काल में ईश्वर की कल्पना भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट नही होती। वह एक ही रूप में प्रगट होती। तब पूरे लोगों को पूर विश्व की कल्पना भी नही थी एवं इसी कारण से यह विभिन्नता और विचित्रता का रूप सामने आया।

हम अपने देश में ही निरन्तर देखते हैं कि परिवर्तन हो रहे हैं। दिन-रात, हमारे चरित्र मे तथा जीवन-मूल्यों मे गिरावट आती जा रही है। इन्सान आज से ६५ साल पूर्व या ५० साल पूर्व के इन्सान के समान इतना अच्छा और श्रेष्ठ इन्सान नही रह गया है। उसकी स्वार्थपरता बढ़ गई है, उसमे कपट और कुटिलता की भावना ज्यादा उभर गई है। उसकी सरलता नष्ट और भ्रष्ट हो चुकी है। इसके विपरीत निरन्तर मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है। पहले जितने यज्ञ और अनुष्ठान होते थे उससे ज्यादा यज्ञ और अनुष्ठान अब होने लगे हैं। आज नाना प्रकार के धार्मिक नेता तथा संतो और महन्तों का विकास एवं प्रादुर्भाव बढ़ गया है। क्या इससे यह समझा जाये और माना जाए कि लोगों का जीवन-स्तर अच्छा हो रहा है? क्या आज का इन्सान अब बेहतर जिन्दगी जीने लगा है? गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि सारी तरक्की, सुख-सुविधा एवं विकास के बावजूद आज का इन्सान पहले के इन्सान की तुलना मे ज्यादा दुःखी है तथा उसे मानसिक सन्तोष भी उतना नही है, जितना पहले के लोगों मे था। अब मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजाघर ज्यादा होने के बावजूद भी आदमी सुखी क्यो नहीं हो पा रहा है? वास्तविकता यह है कि ईश्वर को समझने का गलत प्रयास किया जा रहा है तथा जीवन का नजरिया ही एक अलग ढंग से देखने का हो गया है। उसको सही परिप्रेक्ष्य मे नही देखा जा रहा है और न समझा जा रहा है।

ईश्वर की उपासना सापेक्ष भाव से हो रही है अथवा निरापेक्ष भाव से इस बात का विचार भी जरूरी है। बड़े-बड़े धर्म और मजहब को मानने अपने आप को आस्तिक कहते हैं। आस्तिक की कल्पना क्या है? वैसे तौर पर जो अपने अस्तित्व पर विश्वास करता है उसे आस्तिक

जाना चाहिये, लेकिन यहाँ जो धर्म और मज़हब पर यकीन करता है उसे आस्तिक कहते हैं। उसे नहीं मानने वाले लोगों को नास्तिक और काफिर कहते हैं। जो धर्म, मज़हब को मानते हैं उनकी मानसिक पृष्ठभूमि क्या है? मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि यह बात सिद्ध हो जाए या इसकी घोषणा हो जाए कि ईश्वर एक तत्व मात्र एक विचार भर है। उससे अच्छे जीवन-मूल्यों का निर्माण किया जा सकता है तथा जीवन का, सोचने का विचार करने का दृष्टिकोण एवं स्तर बनाया जा सकता है। हमारे विचार में ईश्वर ऐसा नहीं है जिसके चार हाथ हों या जो हवा में एक सेकण्ड में हज़ारों मील सफर कर ले, जब चाहे जहाँ प्रगट हो जाए और जब चाहे जहाँ लुप्त हो जाए। ऐसे सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना उचित नहीं है। ऐसा भी कोई ईश्वर नहीं है जो सन्तानहीन को सन्तान दे देगा अथवा बीमार को उसकी बीमारी से मुक्त कर दे, परीक्षा में बैठने वाले आलसी-छात्रों को अच्छे नम्बरों से पास करा दे या रातों रात किसी को गरीब और लखपति और करोड़पति बना दे। ईश्वर से यह अपेक्षा नहीं होनी चाहिये कि किसी भी बात की माँग करने पर उसकी माँग को वह पूरी कर दे। यदि यह स्थापित हो जाए कि माँगने से ईश्वर सब कुछ नहीं दे सकता है तथा उसका मनुष्य के जीवन से उसकी भौतिक उपलब्धियों से सम्बन्ध नहीं है। किसी से किसी को कुछ दे नहीं सकता तथा मन्दिरों और मस्जिदों में नाक रगड़ने वालों को उनकी चित्त की शान्ति के अलावे कोई उपलब्धि नहीं हो सकती, तो यह आस्तिकता के दम भरने वाले लोगों से यह प्रश्न पूछना पड़ेगा कि वह कहाँ तक ईश्वर और खुदा पर यकीन करते हैं। वास्तव में ईश्वर को चमत्कार के साथ जोड़कर पहले के विचारकों ने कितना न्याय किया है यह नहीं कहा जा सकता लेकिन यह निश्चित रूप से एक बात बड़े पैमाने पर उसके दुष्प्रभाव के परिणाम रूप में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अधिकांश लोगों ने ईश्वर को एक जादूगर और चमत्कार के रूप में ही मान लिया है। अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अपने मन में ईश्वर का रूप बना लिया है और अपने स्वार्थ के लिए लोगों को मनवाने के लिये अहंकार और पाशविक शक्तियों का सहारा बनाया और इस प्रकार से पूरे विश्व में हिंसा और अशांति के वातावरण को व्याप्त करने में सहायक बने हैं।

हमारे शरीर की जिस प्रकार से रचना हुई है उसमें तीन तत्वों का

प्रमुख हाथ है । इस शरीर का अपना अलग विज्ञान है जिसकी अपनी शारीरिक इच्छाएं और आवश्यकताएं या अस्तित्व को कायम रखने के लिये होता है तथा मौसम के प्रकोप से बचने के लिये उसे मकान एवं वस्त्र चाहिये । उसकी क्षुधा-पूर्ति के लिये भोजन चाहिये, इसी प्रकार मानव जीवन विकास के लिये तथा यौन तुष्टि के लिये उसे कामवासना की जरूरत होती है । मनुष्य केवल शरीर से ही नही बना है । शरीर के अतिरिक्त बुद्धि और मन दो ऐसे तत्व हैं जिसके होने से मनुष्य मनुष्य लगता है । यही दो चीजे हैं जिससे मनुष्य अन्य पशुओं से भिन्न माना जाता है । बुद्धि के लिये ज्ञान का विकास, अध्ययन एवं मनन आवश्यक है । शरीर और बुद्धि के अलावा एक और ऐसी चीज होती है जिसे मन कहते हैं । इसके ही और शुद्ध रूप को आत्मा कहते हैं । इन तीनों—शरीर, बुद्धि और मन का विकास समुचित रूप से न होने पर तथा उनमें सन्तुलन न होने पर मनुष्य के जीवन में एक खालीपन आ जाता है तथा जीवन में समरसता नही रहती । शरीर को स्वस्थ रखने के लिये शारीरिक परिश्रम एवं व्यायाम जरूरी होता है तथा बुद्धि के विकास के लिये ज्यादा चिन्तन और मनन की जरूरत होती है । मन और आत्मा के विकास के लिये अध्यात्म की आवश्यकता होती है जिसे रूहानियत भी कहते हैं । मन को एकाग्र करना जरूरी है ताकि वह चंचल होकर भटकाव की स्थिति मे न रहे । जीवन में शान्ति के लिये भी एकाग्रता आवश्यक है । साथ ही जीवन के प्रत्येक क्षणों में तथा प्रत्येक काल मे आत्म-विश्वास की भावना की आवश्यकता है । अगर आत्म-विश्वास नही हुआ तो आदमी कोई भी काम नही कर सकता । आत्म-विश्वास के साथ ही साथ इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति भी जरूरी है । अतएव एकाग्रता, आत्म-विश्वास, मानसिक शान्ति, संकल्प-शक्ति यह सब मन और आत्मा के गुण हैं जिनका मात्र शिक्षा और अध्ययन से कोई विशेष सम्बन्ध नही है । इनका सम्बन्ध अध्यात्म से है । इन सब गुणों के साथ ही साथ चित्त शुद्धि, मन का हल्कापन भी बहुत जरूरी है । इन गुणों के विकास के बगैर आदमी की जिन्दगी मुसीबत और परेशानियों की जिन्दगी होगी तथा उसे सुख और शान्ति नही मिलेगी, तथा वह नाना प्रकार से अपने द्वारा ही पैदा किये हुए उलझनो के जाल मे उलझकर रह जायगा । जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिये व्यायाम की आवश्यकता होती है तथा बुद्धि के विकास के लिये शिक्षा की जरूरत होती है, उसी प्रकार इन गुणों—मन एवं आत्मा के विकास के लिये अध्यात्म की आवश्यकता होती है । अध्यात्म का

सम्बन्ध योग अध्ययन, चित्त शुद्धि तथा जीवन-मूल्यों की सही उपलब्धि से है। अध्यात्म का कोई सम्बन्ध पूजा-पाठ से नहीं है, न रूढियो से है और न अन्ध-विश्वास के अनुसार काम करने से ही। यह रूढियाँ एवं प्रक्रियाएँ हर व्यक्ति के लिये हर युग में बदलती रही हैं।

अक्सर यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर का अस्तित्व है या नही ? वास्तव मे जब यह प्रश्न उठाया जाता है तब यह मान लिया जाता है कि ईश्वर अर्थात् ऐसी ताकत है जो चमत्कारो के आधार पर काम करे और सब तरफ दुनिया मे इन्सान की निजी जिन्दगी मे सहयोग अथवा हस्तक्षेप करे। मैं समझता हूँ कि इस विवाद मे पडने की आवश्यकता नही है कि ऐसी कोई चमत्कारिक शक्ति होती है अथवा नही। कम से कम हमारी रोजाना जिन्दगी मे पूजा-पाठ करने वाले भक्तों के बीच मे भी इस प्रकार के ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार नही होता। इसलिये फिजूल के भ्रम मे पडकर कि कोई चार हाथ वाला चक्रसुदर्शनधारी ईश्वर होता है अथवा नही, जीवन का वास्तविक क्या लक्ष्य है इस दिशा पर हमारा चिंतन होना चाहिये। जीवन को सुखी बनाना है और सुखी बनाने के लिए हमे दुःखों से मुकाबला करना है। एक प्रकार का मुकाबला तो यह है कि जिन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है वह कारण न होने दिया जाए। जैसे, शरीर को भूख लगती है तो उसके लिए भोजन की सुचारु व्यवस्था हो। सिर पर साये की जरूरत होती है तो उसके लिए अच्छा सुरक्षित एवं आरामदेह मकान की व्यवस्था हो। बीमार पडे तो अच्छी से अच्छी दवाई हो जाए तथा इस प्रकार की कोशिश हो कि आदमी बीमार हो न पडे। मनुष्य के शरीर की जितनी इन्द्रियाँ हो सकती हैं उन सबको संतुष्ट करने के लिए अधिक से अधिक उपाय निकाले जाएँ। तथा मनुष्य की समस्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति उम्दा ढग से हो सके इसकी कोशिश की जाए। विज्ञान ने पिछली शताब्दियों से लेकर आज तक आशातीत प्रगति की है। जिन सुख-सुविधाओं की पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी उन सुख-सुविधाओं को भोगने मे मानव समर्थ हो सका है। १५-२० हजार मील का फासला वह कुछ घण्टों मे ही तय कर लेता है। आसपास आग लगती गरमी पड़ रही हो तो भी वह अपने आप को हिमालय की ठण्डक मे बनाए रख सकता है। जब इच्छा करे और जैसा भोजन, वस्त्र आदि वह प्राप्त करना चाहे उसे उपलब्ध हो सकता है लेकिन इसके बावजूद भी क्या यह कहा जा सकता है कि

आदमी पूर्ण हो सका है तथा उसे अब किसी प्रकार का दुःख नहीं है। अमेरिका और यूरोप के देश भौतिक उन्नति की दिशा मे कितना आगे बढ गये हैं यह भारत के गाँव मे बैठे हुए एक गरीब को कल्पना भी नही हो सकती। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उस झोपडीवासी गरीब को कुछ मामलों में जितनी शांति है और उसके जीवन में जो सुख है वह विज्ञान की दुनिया में, चारों तरफ से घिरे हुए भौतिकता के ऐश्वर्य में अपने आप को बन्धक रखे हुए एक आधुनिक नागरिक को उपलब्ध नही है। कारण यह है कि शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति मे सुख की अनुभूति तो हो सकती है किन्तु तृप्ति नहीं। शरीर एक माध्यम है तथा भोगने वाला मन है। यदि मन मे अशांति है तो सारे सुख-साधन सामने रहने के बाद भी सुख न पहुँचाकर दुःख ही पहुँचायेंगे। मन मे यदि आत्म-विश्वास और संकल्प-शक्ति की कमी है तो तिल का टुकड़ा भी पहाड मालूम पडेगा, तथा जीवन का हर घटनाक्रम भयावह हो जायेगा। उसी प्रकार यदि हृदय में ईर्ष्या की आग जल रही हो या तात्कालिक घटनाओं से मन को ऊपर उठाने और एकाग्र करने की कला आदमी को न मालूम हो तो घर मे रोता हुआ बालक भी व्यक्ति को विचलित कर सकता है। शंकराचार्य की माँ की मृत्यु होने से उन्हें यह महसूस हुआ कि अब उन्हें ईश्वर की उपासना के लिए पूरा समय मिलेगा और मोह का एक अटकाव जो उनके लिए कुछ दूरी तक था वह अटकाव भी समाप्त हो गया। वस्तुतः सुख भोग के पदार्थों मे नहीं, भोगने वाले के मन मे है। अच्छी से अच्छी स्वादिष्ट वस्तुएँ, ५६ रस के व्यंजन सामने रखे हो और किसी ने खाने वाले को उसके लड़के की मृत्यु की खबर दे दी हो तो वह सारी स्वादिष्ट वस्तुएँ उसे जहर के समान लगेंगी जो साधारण स्थिति मे उसके लिए अमृत सरीखे होते। आज संसार में अधिकतर विग्रह, अशांति और हिंसा सब कुछ इसलिये है कि हमारे मन में अधिक से अधिक संग्रह करने की लालसा है, ज्यादा से ज्यादा सोनो पर, सम्पत्ति पर तथा भूमि पर अधिकार रखने की भावना है तथा अपने अलावे दूसरे की उन्नति व सुख-समृद्धि बर्दाश्त न कर सकने की भावना है। इस सब पर जब तक काबू नही पाया जायेगा तब तक ऊपर से संसार कितना ही लुभावना और अच्छा न बना दिया जाये इन्सान की जिन्दगी में सुख या आनन्द नही आ सकता और न मनुष्य पूर्णता की ओर जा सकता है। गीता में इसलिये इसे अनासक्ति योग के रूप में कहा है। अलग-अलग विचारकों ने

गीता को अलग-अलग दृष्टि से देखा है। शंकराचार्य ने जहाँ इसे सांख्य योग के रूप मे देखा है, वहाँ लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग बताया है। गांधी जी ने इसे अनासक्ति योग का नाम दिया है तो विनोबा जी ने इसे साम्य योग कहा है। कछुवा का बहुत सुन्दर उदाहरण है। कछुवा जब अपने चारों तरफ निरापद स्थान देखता है तो वह अपने हाथ-पैर बाहर निकालकर बड़े इतमिनान से दौड़ लगाता है लेकिन कही किसी ने थोड़ा सा ककड़ उठाकर फेंक दिया तो वही कछुवा अपने सारे हाथ-पैर समेटकर अपने सुरक्षा की ढाल के अन्दर ही समा जाता है। हमारे मन की भी दशा ऐसी ही होनी चाहिये, जिसमे मनुष्य इस संसार मे तो रहे, उसके भोगों को भी भोगे किन्तु उसके मन के तराजू का पलड़ा सन्तुलित व बराबर रहे। वही इसे कबीरदास ने कहा है 'साधो सहज समाधि भली'। जहाँ कबीरदास जी चलते-फिरते हैं वह सब परिक्रमा होती है, जब सोते हैं तब दण्डवत करते हैं, जो कुछ बोलते हैं वह भोजन आरती होती है और जो खाते-पीते हैं वही पूजा है। कितनी व्यापक, उदार और वास्तविक कल्पना है।

और इसी मे इस बात का भी उत्तर मिल जाता है कि जादू और चमत्कार वाले ईश्वर के पीछे पड़ने की जरूरत नही है। बल्कि कुछ दिनो तक यह स्पष्ट मानने की आवश्यकता है कि ऐसे कोई जादू-टोने वाले ईश्वर नही हैं और न ही उसे मानने की जरूरत है। मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा से स्वस्थ होना चाहिये, और सहज समाधि का ऐसा योग हो कि मनुष्य निरन्तर महसूस करे कि वह असत्य से सत्य की ओर बढ रहा है, अन्धकार से प्रकाश की ओर जा रहा है और नश्वरता से अमरता की ओर बढ़ रहा है। जब इस सहज समाधि की अनुभूति उसे होती है तो मनुष्य स्वयं इस स्थिति में आ जाता है कि वह दुःख और सुख से ऊपर उठकर जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सकता है तथा शाश्वत जीवन के मानव-मूल्यों का सृजन और स्थापना उसी के द्वारा होती है।

लेकिन आज धर्म और मजहब के नाम पर हमारे सामाजिक जीवन का तीन चौथाई से ज्यादा हिस्सा जज्ब होता है, जबरन झूठे पूजा-पाठ होते हैं। बहुत से संतों और जगत गुरुओं की दुकानदारी होती है। मन्दिरो और मस्जिदों मे अहंकारी और पाखंडी पनपते हैं और इस खूबसूरत दुनिया को कितना भद्दा, घिनौना बनाने की कोशिश हो सकती है इन धर्मों के नाम से

होती है। और तो और आज इन धर्म के दुकानदारों के जरिये तमाम वे काम ऐलानिया किये जाते हैं जो जो इन्सानी जिन्दगी के लिये न केवल गैर-मुनासिब और गैर-वाजिब हैं बल्कि जिनके करने से इन्सानी जिन्दगी के खात्मा का सवाल खड़ा हो गया है। और इस प्रकार के धर्म और मजहब और चमत्कारी देवी और देवताओं की हमारी जिन्दगी मे क्या जरूरत है? इस बात का यदि गुणा-भाग किया जाय कि इस प्रकार के धर्म-मजहब और चमत्कारों से कितना लाभ हुआ है और कितना नुकसान हुआ है तो साफ जाहिर होगा कि लाभ के नाम पर केवल भ्रम और अहंकार ही फैला है और हानि के नाम पर यह खूबसूरत और अच्छी भली दुनिया हर प्रकार से बर्बाद हो रही है, नष्ट और भ्रष्ट हो रही है। मैं जब इस प्रकार का कोई आयोजन देखता हूँ कि जहाँ धर्म, पंथ और मजहब के द्वारा यज्ञ, मेले, जलसे और जुलूस का आयोजन होता है तो मुझे उसके भीतर एक भयानक जाल-साजी और दुकानदारी की गन्ध आती है और ऐसा लगता है कि इस सड़ांध से आदमी को कैसे और कितनी जल्दी बचाया जा सके, क्योंकि उसमें अध्यात्म की सरलता और पवित्रता नही होती। ऐसा धर्म जो हमारे जीवन मे आचरण की शुद्धि न लाये, मन में सरलता न पैदा करे तथा रोजाना की जिन्दगी मे हमारे आसपास और समाज के लोगों के प्रति उनके दुख-दर्द मे शामिल होने की भावना न पैदा कर सके उसे धर्म न कहकर अधर्म ही कहना उचित होगा। राम और रावण में झगड़ा किस बात का था। राम तो क्षत्रिय थे और रावण ऊँचे कुल के ब्राह्मण थे। इसके अतिरिक्त रावण बहुत विद्वान, विज्ञानी एवं साधन-सम्पन्न था। किन्तु ब्राह्मण पुत्र रावण की सभ्यता और संस्कृति को राक्षस की सभ्यता और संस्कृति माना गया है और राम जिन्होंने अपना राज-पाट छोड़ा तथा जंगल में भटकते रहे और गिरिजनों तथा हरिजनो के बीच मे रहे, उन्हे देवता की उपाधि से विभूषित किया गया। मेरा ऐसा ख्याल है कि यदि गणना की जाय तो धर्म-कर्म मे जुटे हुए ८० प्रतिशत लोग आज रावण की संस्कृति के ही वंशज हैं और राम से उन्हे कुछ लेना-देना नही है। वह मुँह से केवल राम का नाम भर लेते हैं।

आदमी तो सब बुनियादी तौर पर एक ही हैं। अलग-अलग देश तथा जलवायु आदि में पैदा होने पर उनके पूर्वजों ने जो मान्यताएँ बना ली उस कारण वे एक जाति विशेष से सम्बोधित किये जाने लगे। मुझे तो कभी नही महसूस होता कि एक ब्राह्मण या क्षत्रिय में या एक ...

ईसाई में उसके शरीर, मन तथा बुद्धि के बनावट में बुनियादी कोई अन्तर है। जो कुछ भी अन्तर है या भेद पैदा हुआ है वे इन आदमियों ने, हमारे समाज ने तथा हमारी व्यवस्था ने जबरन उन पर थोप दिया है और वह अपने माथे पर एक झूठा साईन बोर्ड लेकर चलता फिरता है कि मैं हिन्दू या मुसलमान हूँ या ईसाई हूँ। जबकि बुनियादी तौर पर वह मात्र एक आदमी है जिसे हर आम आदमी के समान भूख लगती है, प्यास लगती है, सेक्स की भी आवश्यकता होती है। इस सहज एकात्मकता को न समझकर धर्म-कर्म का झूठा फरेब इन मजहब वालों ने आज पैदा किया हुआ है और इस बात की जरूरत है कि दुनिया से मजहबपरस्ती की भावना को खत्म करने का संकल्प किया जाए। मजहब और—ये चमत्कारी भगवान संसार के सबसे बड़े पाखंड हैं। जितनी जल्दी इस सत्य को समझा जा सकेगा उतनी ही जल्दी विश्व का कल्याण होगा।

हमारे देश हिन्दुस्तान मे जहाँ ४० करोड़ लोग गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे हैं वहाँ उनको रोजगार न दिलाकर धर्म का अफीम पिलाया जाये और भगवान के नाम पर उनको लोगो का अत्याचार सहने के लिये धैर्य रखने हेतु भजन कीर्तन सुनाया जाए इससे और बड़ा पाप इन्सानियत के लिये कुछ नही हो सकता है। मेरा ऐसा अन्दाज है कि अगर यह बता दिया जाय कि चमत्कार का भगवान से सम्बन्ध नही है तो आधे से ज्यादा लोग धर्म-कर्म छोड़कर घर बैठ जाएँगे क्योंकि वे लोग भगवान को मानते ही इसलिये हैं कि भगवान से उन्हें कुछ हासिल हो सकता है। जब हासिल ही नहीं हो सकेगा तो मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह पंजाब का झगड़ा, हिन्दू और सिखो के बीच का विवाद, उसी प्रकार से एक जाति से दूसरी जाति का झगड़ा सब व्यर्थ है। कितनी ताकत इसमें खर्च होती है तथा इन सबका लब्बोलवाब क्या है, क्या हासिल होना है इससे? गुरु ग्रन्थ पढ़ने वाला भी उतना अच्छा हो सकता है जितना गीता और कुरान पढ़ने वाला और उतना ही दुष्ट हो सकता है जितना कि अन्य मजहब वाले। कवि नीरज ने १०० फीसदी सही कहा है कि "कर्मकांड से बड़ा धर्म है, और धर्म-कर्म से बड़ा मर्म है। लेकिन सबसे बड़ा यहाँ एक छोटा सा इंसान है, और अगर वह प्यार करे तो धरती स्वर्ग समान है।"

वैधानिकता और नैतिकता

पुराणों में न्याय को धर्म की संज्ञा दी गई है। समाज व राष्ट्र का धारण जिन नियमों के आधार पर होता है उसे ही आप्त ऋषियों ने धर्म माना है। शासन द्वारा उद्घोषित जिन नियमो के पालन को बाध्यता होती है वह विधान है तथा समाज मे प्रचलित सामान्य मान्यताएँ जिन्हे स्वयं अनुशासन से माना जाना चाहिये वे नैतिकता के आधार स्तम्भ होती हैं। बहुधा वैधानिकता एवं नैतिकता एक-दूसरे के समर्थक व पूरक होते हैं, किन्तु बदलती हुई आवश्यकताएँ, मान्यताएँ तथा सामाजिक परिवेश से जहाँ एक ओर राष्ट्र के विधान परिवर्तित होते हैं, वही नैतिकता भी युग-बोध के आधार पर अपने स्वरूप को बदलती रह सकती है। अनेक अवसरों पर वैधानिकता तथा नैतिकता में किन्ही कारणो से विरोधाभास भी परिलक्षित होता है।

मारिस गिन्सबर्ग ने अपनी पुस्तक 'On Justice in Society' मे कहा है कि "Systems of law which have grown up slowly in response to social needs embody relations between law and morals, different from those systems imposed from without at the command of conqueror. Systems in which law, ethics and religion are closely interwoven as in the law of Islam, differ from secularized systems and in these again the impact of *moral opinion on law varies* with the type of political structure and the influence of public opinion on legislation."

न्याय व विधान सत्य व धर्म पर आधारित होते हैं। यह धर्म, किसी

जाति विशेष का, या साम्प्रदायिकता पर आधारित नही, अपितु युग की जनहित के सिद्धांत पर उनकी आवश्यकताओ पर ही आधारित होता है। 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' इस वैधानिकता की आधारशिला होती है। "धर्मो: विश्वरूप जगतः प्रतिष्ठा" जगत की प्रतिष्ठा को अधिष्ठापित करते हुए उसे विश्वरूप देने का प्रयास ही लक्ष्य हो सकता है। प्रोफेसर पॉटर ने कहा है कि— "न्याय सत्य का ही रूप है परतु न्याय अथवा वैधानिकता के ही विविध स्वरूप हैं। परिणामस्वरूप इस न्याय के विविध पहलू हो गये हैं, यथा—सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय, प्रजातान्त्रिक न्याय, नैतिक न्याय तथा इसके उपरांत भी और अन्य स्वरूप भी हैं।"

आज के युग में हमारे देश मे, न्याय अथवा वैधानिकता, उसके सही सामाजिक परिवेश में समझना अत्यंत आवश्यक है। प्रोफेसर 'पॉटर' ने पुनश्च कहा है कि "In this world there has been untold sufferings caused by man's injustice to man." लार्ड मेन्सफील्ड के अनुसार "स्वतन्त्रता ही वैधानिक शासन के अन्तर्गत रहने का अधिकार है। हमारे संविधान मे भी मूलभूत नागरिक अधिकारो की व्याख्या की गई है। विचारों की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति व व्यवसाय की स्वतन्त्रता, धर्म व मजहब की स्वतन्त्रता। लेकिन हमे युग सन्दर्भ में, इस स्वतन्त्रता का आशय भली-भांति समझ लेना होगा।"

मनुष्य द्वारा अपने ही ऊपर स्वयं, अपने प्रतिनिधियो एवं शासन द्वारा लगाये गये बन्धन व अनुशासन ही विधान हैं तथा तदनुसार उनकी व्याख्या न्याय है। यदि हम चाहते हैं कि हम पर हिंसा-प्रहार न हो, हम सुरक्षित रहें तो निश्चित रूप से हम पर अंकुश आवश्यक है कि हम दूसरो पर हिंसा न करें तथा दूसरो को सुरक्षित रखें। यदि हम चाहते हैं कि हम भूखे और बेरोजगार न रहे तो हमें यह देखना होगा कि समाज में कोई भूखा और बेकार न रहे। यदि हम चाहते हैं कि समाज मे हमारा शोषण न हो, तो हमें किसी भी रूप मे समाज व किसी अन्य व्यक्ति का किसी भी रूप में शोषण बद करना होगा। यदि हम चाहते हैं राज्य हमे परिवहन व्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा व अभाव से मुक्ति दिलाये तो शासन के अनुदेश का पालन निर्विवाद रूप से करना होगा तथा कर अपवंचन का कठोरतापूर्वक मुकाबला करना होगा। सेजे फेयरे का सिद्धान्त आज के समतावादी युग मे अपने आप गलत सिद्ध हो

गया है। यदि समाज में सुख-शान्ति व समृद्धि चाहिये तो वह सबके लिये होगा। उसमे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव न तो सम्भव है और न आवश्यक। एक व्यक्ति के पास लाखों व्यक्ति की रोटी तिजोडी में कैद हो, तथा लाखो व्यक्ति बिना रोटी के रहे यह किसी भी न्याय के तराजू मे नही तौला जा सकता। जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करते हैं और वैधानिकता को इसी दृष्टि से देखते है उन्हे सामाजिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे इन मूल्यों को देखना होगा। एक व्यक्ति के हित के लिये, समाज तथा राष्ट्र के हित का बलिदान न वैधानिकता के अन्तर्गत सम्भव है न ही नैतिकता के अन्तर्गत मान्य है।

अक्टूबर १९७३ मे शांति शक्तियों के विश्व सम्मेलन मे मैं भारतीय प्रतिनिधि के रूप में मास्को गया था। सर्वप्रथम मेरी भेट तत्कालीन भारतीय राजदूत श्री पेलवनकर से हुई। रूस पहली बार गया था। मन मे अनेक धारणाएँ व आशंकाएँ थी। कहा जाता था कि रूस लौह आवरण का देश है। यहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही है। मैंने यही प्रश्न भारतीय राजदूत से दुहराया। उन्होंने कहा कि लौह आवरण आपको कही दिखा क्या? उत्तर निश्चित रूप से नकारात्मक था। उन्होंने कहा कि यदि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को व्यवसाय प्राप्त करने की स्वतन्त्रता, भूख व अभाव पर विजय प्राप्त करने की स्वतन्त्रता, शिक्षा, न्याय और निःशुल्क चिकित्सा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता, रोटी, कपडा और मकान प्राप्त करने की स्वतंत्रता, जीवन की विविध विधाओं को उसके समुन्नत शिखर पर पहुँचाने की स्वतन्त्रता को आप स्वतन्त्रता मानते हैं तो वह रूस मे पूर्णरूपेण विद्यमान है। परन्तु यदि आप हाट-बाजार, चौराहों व चौपालो मे अपने कंठ के उच्चतम स्वर से अराजकता व अनुशासन-हीनता उत्पन्न करते हुए गाली-गलौज करने को आप स्वतन्त्रता मानते हैं, तो यह निश्चय ही रूस मे नही है। कुछ लोगों के स्वार्थ को समाज व राष्ट्र का स्वार्थ नहीं माना जा सकता।

सवैधानिक राष्ट्र निर्मित होता है राष्ट्र से परे नही। यदि संविधान की कोई धारा राष्ट्रहित मे बाधक है तो उसे राष्ट्र 'अनुरूप' बना लेना ही समयोचित नैतिकता होगी, तथा इसके विपरीत आचरण करना ही अनैतिकता है। हमने अनुभव किया है कि समय-समय पर नैतिकता की मान्यताएँ बदलती रही हैं। एक युग था जब 'बहु-पत्नी प्रथा' सर्वथा नैतिक था। एक राजा की

सैकड़ो रानियाँ थीं, किन्तु आज इस स्थिति की कल्पना करना भी घृणित माना जाता है। पहिले नव-वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि दूधो नहाओ और पूतो फलो। एक के इक्कीस हो। किन्तु 'हम दो और हमारे दो' के इस युग में पुरानी मान्यता न केवल हास्यास्पद हो गई है, वरन् दुखद भी है।

जो राष्ट्र 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' विधान बना सकने में पिछड़ते हैं वहाँ अराजकता, विघटनवाद, हिंसा, अशांति व शोषण का तांडव नृत्य होता है। परिणामस्वरूप ऐसे राष्ट्र नव साम्राज्यवादियों के षड्यंत्र के या तो शिकार हो जाते हैं अथवा प्रतिगामी शक्तियों की फासिस्ट मनोवृत्तियों के भँवर-जाल में उलझ जाते हैं।

अक्सर प्रगतिशील वैधानिकता व उलझी हुई क्रांतिपूर्ण नैतिकता में विरोध प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ता है। कई बार समाज का प्रतिक्रियावादी तत्त्व मरी हुई बदरिया की भाँति टूटी हुई नैतिकता का बोझ ढोते रहता है और राष्ट्र धर्म की आवश्यकता को न्याय तथा वैधानिकता विरोधी भी कहता है। लेकिन चरम सत्य चाहे वह सुकरात का हो, चाहे गाँधी का, परम्परागत प्रतिक्रियावादियों का विरोध भाजन बना ही है।

जब हम प्रतिनिधिकरण शासनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र व उसके विधान को स्वीकार करते हैं, तब बदलते सामाजिक परिवेश व सामाजिक तथा आर्थिक न्याय तथा सबके सुख व समृद्धि के लिये, अनुशासन व बन्धन को मानना होगा, तथा वहीं वैधानिकता व नैतिकता का सहज, सुन्दर, शिवमय समन्वय होता है जो आवश्यक है, विशेषकर, उस राष्ट्र के लिये जो प्रजातन्त्र के माध्यम से विधानों के अन्तर्गत समतावादी समाज की स्थापना करते हुए धर्म-निरपेक्षता, सामाजिक व आर्थिक न्याय देने हेतु कटिबद्ध व व्रत-संकल्प हो।

• •

ब्राह्मण, सावधान !

ब्राह्मण वर्ग के विरुद्ध समाज में व्याप्त असन्तोष अभिजात्य वर्ग के विरुद्ध विद्रोह की भावना के फलस्वरूप इन दिनों विशेष रूप से व्याप्त है। यह विद्रोह अकारण ही है। हिन्दू समाज में वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों को सबसे ऊँचा और महत्व का स्थान प्राप्त था। इसका कारण यह है कि ब्राह्मण उच्च संस्कारयुक्त होकर अपने को ज्ञान-मंडित करते हुए ज्ञानदान एवं समाज की सेवा का कार्य करते थे। अब वह स्थिति नहीं है। सभी वर्ण के लिये वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार जो कार्य निर्धारित किया गया था उससे वे विमग हो चुके हैं तथा वर्ण व्यवस्था का वह सिद्धान्त अब पोथो में सिमट कर रह गया है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपने मूल कार्य या धर्म से हटकर सभी लोग सब प्रकार का कार्य करने लगे हैं। केवल अपने-अपने वर्ण का अहङ्कार मात्र उनके पास शेष है। एक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर दूसरी व्यवस्था के स्थापित होने के पूर्व की शून्यता एवं कुंठा समाज में विद्यमान है।

जन्म से ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के झूठे दम्भ के कारण मात्र से ही समाज में अब उनको प्रतिष्ठा बने रहने की सम्भावना कम ही है। वैसे भी कहा गया है कि "जन्मना जायते शूद्र. कर्मणा वध्यते द्विज:"। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र उत्पन्न होता है तथा कर्म एवं संस्कारों से ही वह द्विज होता है। द्विज का अर्थ ही है—वह व्यक्ति जिसका दो बार जन्म हुआ हो। एक बार माँ के कोख से तथा दूसरी बार संस्कार धारण करने पर। इसी दृष्टि से यज्ञोपवीत संस्कार की स्थापना हुई थी। अब यह यज्ञोपवीत संस्कार मात्र औपचारिकता ही है तथा मृतप्राय रूढ़ि का किसी प्रकार से निर्वहन किया जा रहा है। ज्ञान और संस्कार की बात अगर बिलकुल मिट

नही गई है तो लगभग लुप्त हो गई है। अन्य दूसरे वर्ण के लोग ज्ञान और संस्कार उसी प्रकार से प्राप्त करने लगे हैं जिस प्रकार से ब्राह्मण पहिले अपने वर्णाधिकार के अन्तर्गत एकाधिपत्य की भावना से करते थे। वस्तुतः ज्ञान और संस्कार तथा कुलीन आचरण एक तरफ जहाँ ब्राह्मण वर्ग के लोग खोते जा रहे हैं वही दूसरी ओर दूसरे अन्य वर्ण के लोग उसे धारण करते चले जा रहे हैं। खोने और धारण करने के बीच जो नया युग-बोध उत्पन्न हुआ है उसके कारण समाज मे असहिष्णुता और संघर्ष की भी स्थिति उत्पन्न हो गई है।

ब्राह्मण वर्ण के लोग केवल जन्म के आधार पर समाज मे यदि प्रभुता स्थापित करने की आकाक्षा एवं कामना करते हैं तो वह मात्र थोथा प्रयास होगा। इसलिये वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालकर समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित करना परम आवश्यक है। एक तरफ तो उच्च संस्कार लुप्त होते जा रहे हैं और दूसरी तरफ अधिकार और दम्भ की भावना का दुराग्रह अपने स्थान पर कायम है। इस दुरभि-सधि के बीच आज ब्राह्मण वर्ण का अस्तित्व चुनौतियो का सवालिया निशान बन चुका है। अतः ब्राह्मण सस्कृतियो के समर्थकों को अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु गम्भीर विचार करना आवश्यक है। जहाँ एक तरफ नये युगबोध के प्रति उनमे सहिष्णुता की भावना उत्पन्न होना चाहिए वही दूसरी ओर ज्ञान, संस्कार एव सेवा की भावना की जागृति एवं तदनुसार आचरण अत्यन्त आवश्यक है। आज समाज में ब्राह्मण ऐसा कोई दुष्कृत्य नहीं करता है जो अन्य न करते हो। प्रमाद, मदिरापान, व्यभिचार, कदाचरण आदि सारी बाते उसमे अन्य वर्णो की भाँति ही व्याप्त हैं। ब्रह्मज्ञान, आत्मदर्शन का बोध, समाज को प्रेरणा दे सकने का सामर्थ्य एव समाज को समर्पित करने वाली सेवा की भावना, यह तो कहने मात्र की बात रह गई है। अतएव यदि ब्राह्मण वर्ग समाज मे अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहता है तो निश्चित रूप से उच्च विचारो और उच्च संस्कारों को उसे धारण करना होगा एवं ऐसी स्थिति बनानी होगी जिससे वह समाज के लिये दार्शनिक चिन्तक एवं मार्गदर्शक का कार्य कर सके। यह बहुत ही कष्टसाध्य कार्य है तथा इसके लिये दृढ आस्था एव संकल्प-शक्ति की आवश्यकता है। समाज के वरिष्ठजन इस दिशा में समाज को अनुशासित करने मे पहल कर सकें तो ही अच्छा होगा।

बौद्ध युग के प्रारम्भिक काल में ब्राह्मण संस्कृति के विरुद्ध श्रमण संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था। ब्राह्मणों द्वारा दमन, हिंसा एवं वर्ग भेद की भावना से समाज मे विग्रह उत्पन्न हो गया था। उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दया, करुणा और अहिंसा की भावना से प्रेरित होकर भगवान वर्धमान महावीर के पहिले तीर्थङ्करों ने समता व अहिंसा की भावना से जैन संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया था। तथा बहुत बाद मे, आदि शङ्कराचार्य ने पुनश्च अपने ज्ञान एवं तपस्या के कारण सनातन धर्म की पुनर्स्थापना की थी तथा भारत-वर्ष की चारों दिशाओं में चार धाम स्थापित किया था। अतः अब पहिली आवश्यकता तो यह है कि जमाने की बदलाहट को देखते हुए उच्च एव कुलीन वर्ग के लोग समाज के अन्य वर्ग, खास तौर से जो दलित, पीड़ित और शोषित हैं उनके साथ सद्भाव, मैत्री एवं प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करें। वर्ग-जन्य भेदभाव से अब किसी को इज्जत मिलने वाली नही है, बल्कि विनय-शीलता, मिलनसारिता एवं सेवा भाव से ब्राह्मण समुदाय को, जो अभी भी ज्ञान एव संस्कार से सर्वथा विलग नही हुआ है, समाज मे अगुवाई मिल सकती है।

इसके पहिले कि समाज के अन्य वर्ग के लोगो के साथ समभाव और मैत्री स्थापित हो यह भी परम आवश्यक है कि स्वयं ब्राह्मण समाज के विभिन्न श्रेणियों में एकता एवं भाई चारा की भावना बढे। अतः यह कार्य तभी सम्भव है जबकि छोटे-छोटे भेदभाव को समाप्त कर आपस मे खानपान एवं विवाह आदि के सम्बन्ध स्थापित हो। कम से कम एक भाषा बोलने वाले जितने भी प्रकार के ब्राह्मण हो उनमे एकता अत्यन्त आवश्यक है। पहिले अलग-अलग अंचलो में रहने वाले ब्राह्मण अपने उन अंचलो के नाम से जाने जाते थे। सरयू के पार में रहने वाले सरयूपारी, कन्नौज मे रहने वाले कान्य-कुब्ज, पंजाब, राजस्थान तथा मेरठ के लोग गौड़ ब्राह्मण, बिहार मे रहने वाले मैथिल तथा काश्मीर में रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण के नाम से जाने जाते थे। वस्तुतः इनमें कोई बड़ा भेदभाव नही है। अपने वर्चस्व को कायम रखने की दृष्टि से ये सब अलग-थलग रहते रहे। हो सकता है कि थोड़ा बहुत व्यावहारिक शुद्धता एवं रक्त की शुद्धता से दृष्टि से यह अलगाव रहा हो। किन्तु अब जबकि संचार के साधनों एवं आवागमन के साधन बढ़ चुके हैं तथा मूल रूप से सभी ब्राह्मण एक हैं तो उनमें यह परस्पर भेदभाव सम्पूर्ण ब्राह्मण

समाज के अस्तित्व को ही खतरा पहुँचायेगा। वैसे भी रूढियों और कर्म-काण्ड का बन्धन समाज के उच्च एवं धनिक वर्गों के लिये तथा दूसरी तरफ समाज के गिरे तथा दुर्बल वर्ग के लिये कभी लागू नही रहा है। बीच का मध्यम वर्ग ही अन्धविश्वासो एवं रूढ़ियो का दास रहा है तथा विभिन्न प्रकार की कुण्ठाओ मे अपना जीवन वे व्यतीत कर रहे हैं। आज भी अत्यधिक आधुनिक, शिक्षित एवं धनिक वर्ग के लोग परस्पर एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ग मे विवाह सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा उसे मान्यता भी दी जाती है। संकीर्ण और सिमटा हुआ समाज जो कष्टकारी जीवन व्यतीत कर रहा है उसके लिये ही ये सब प्रकार के बन्धन है। इसलिये परम आवश्यक है कि एक व्यापक भाव तैयार किया जाय जिसमे सर्व-ब्राह्मण वर्ग एक साथ एकत्रित हो सके और उनमे रक्त का भी सम्बन्ध स्थापित हो।

भारतवर्ष की पुरानी परम्परा विश्व-बन्धुत्व की रही है। विश्व-बन्धुत्व की कल्पना एक आदर्श कल्पना अवश्य है किन्तु उसको अमली-जामा पहिनाने के लिये तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिये कम से कम एक वर्ग के विभिन्न उप-वर्गों मे एकता एवं भ्रातृ-भाव होना आवश्यक है। क्या इस बात को आज रूढ़ियां एवं अहंकारों मे घिरा हुआ अपने आपको बुद्धि-जीवी कहने वाला ब्राह्मण वर्ग विचार करने को तैयार है ? यदि नही, तो अलग-अलग खेमों मे बँटकर तथा अपनी संकीर्णताओ में रहकर उसका रहा-सहा अस्तित्व भी लोप हो जायगा।

इस विवेक एवं विचार-भूमि के आधार पर समाज में चन्द दूसरी बुराईयो की ओर भी सोचना होगा। क्या ब्राह्मण वर्ग में भी कुलीन एवं धनिक वर्ग के लोग अपने ही समाज के गरीब लोगों के साथ उदारतापूर्वक मेल-मिलाप करते हैं ? उनके सुख-दुःख मे शामिल होते हैं ? क्या अक्सर ऐसा नही होता कि एक जैसे आर्थिक स्तर के लोग चाहे एक ही जाति के क्यो न हों अपने ही आर्थिक स्तर के बीच में सम्बन्ध रखते हैं और अपने से हीन प्रकार के लोगो से सम्बन्ध रखने में उन्हे अपनापन महसूस नहीं होता है ? यदि यही संकीर्णता रहेगी तो फिर समाज संगठन एवं मन्च की उपादेयता समाप्त हो जाती है।

जहां एक ओर नये युग के अनुसार अपने को ढालकर समायोजन की भावना आवश्यक है वही समाज में व्यापक कुरीतियों एवं बुराईयों को भी

दूर करना जरूरी है। छुआछूत की भावना, परदे की प्रथा, महिलाओं के प्रति उपेक्षा और अन्याय इन सबको समाप्त करना ही होगा। महिलाओं को हर क्षेत्र मे आगे बढाने के लिये सभी अवसर देने होगे तथा इस सम्बन्ध में मन मे व्याप्त हीनता की ग्रन्थि को हमें दूर करना होगा। साथ ही शादी-व्याह तथा विभिन्न संस्कारों में दिखावे के लिये अनाप-शनाप खर्च करना भी रोकना होगा। ब्राह्मण समाज मे विशेषकर कान्यकुब्ज समाज मे दहेज की प्रथा का बहुत ही बुरा प्रभाव है तथा इस कारण बहुत से परिवारों मे लडकी कुँवारी रह जाती है या जीवन मे छोटी-मोटी भूल के कारण आत्म-हत्या करने के लिये उन्हे विवश होना पड़ता है। एक बहुत बड़ी चुनौती का प्रश्न इस माध्यम से हमारे सामने है। क्या दहेज की प्रथा को समाप्त करने के लिये संकल्प लेने के लिये समाज तैयार है ? यदि नही, तो सुधार और उन्नति की सारी बातें व्यर्थ हैं तथा उनका कोई प्रयोजन नही रह जाता। इसके साथ ही समाज के दुर्बल वर्ग के लोगों के लिये सामाजिक उन्नति तथा शिक्षा का साधन जुटा पाना भी बहुत जरूरी है। समाज के धनी-मानी एवं उदार हृदय व्यक्तियों को इस सम्बन्ध मे सामने आना चाहिए और समाज के सबसे आखिरी व्यक्ति को ऊपर उठाने के प्रयास में लग जाना चाहिये।

यह आर्थिक युग है। इस दृष्टि से भी अब पुरानी मान्यताओं की दुहाई देते रहने से काम नही चलेगा। आर्थिक विकास एवं विभिन्न उद्योगों को अंगीकार करते हुए इस समाज को अपने आप आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से भी स्थापित करने की दिशा में प्रयास करना चाहिये। यदि उपर्युक्त सुझाव और भावनाओं के आधार पर विचार किया गया तथा उस दिशा में हो हमारे कदम बढ़े तो निश्चित रूप से जहाँ पूरे ब्राह्मण समाज में एकता एवं उन्नति की भावना आवेगी वही दूसरी ओर वे अपने समाज के माध्यम से उदार भावना से अन्य वर्ण के लोगों के साथ उदारता, समभाव तथा प्रेम की भावना पैदा कर सकेंगे तथा उससे सम्पूर्ण हिन्दू समाज में सद्भावना उत्पन्न होगी तथा स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकेगा।

भारतीय संसदीय जीवन के कार्य-कलाप
—कुछ सुझाव

भारत के सन्दर्भ में जब हम पिछले २५ वर्षों की ओर निगाह करते हैं तो संसदीय प्रजातन्त्र की बहुत सी उपलब्धियाँ निश्चित रूप से हमारे समक्ष आई हैं, लेकिन यह भी निर्विवाद है कि संसदीय प्रजातन्त्र और उसके अस्तित्व के लिये बड़ी विषम चुनौतियाँ, कई गम्भीर और विकट प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हैं। इस सन्दर्भ में गोष्ठियाँ और परिसंवाद निश्चित रूप से कई दिशा की ओर संकेत करते हैं, किन्तु जिस प्रकार से मेरे बहुत से मित्रों ने अपनी राय जाहिर करते हुए संसद या विधान सभाओं के समक्ष, या विधान सभाओं में हुई चर्चाओं की उपयोगिता के बारे में और उसकी तथाकथित निरर्थकता के सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर की है, कई परिसंवाद मात्र चर्चा और वाणी विलास के माध्यम बन गये हैं। बहुत जरूरी है कि ज्यादा गम्भीरता के साथ और उत्तरदायित्व के साथ इसे लिया जाना चाहिये। खेद यह है कि ऐसे परिसंवादों में हमारे संसदीय मन्त्री भी उपस्थित नहीं होते।

जैसा कि हिमाचल प्रदेश के मेरे मित्र श्री शांताकुमार ने अपनी चर्चा के अन्तर्गत यह कभी जाहिर किया था, यद्यपि बहुत सी सफलतायें, संसदीय प्रजातन्त्र के माध्यम से देश को आगे बढ़ाने के लिये, समस्याओं के निराकरण करने की दिशा में हमें मिली हैं, लेकिन उसके बावजूद भी सामान्य जन-जीवन में, लोक-समाज में बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनके कारण संसदीय प्रजातन्त्र द्वारा जो चुने हुए प्रतिनिधि हैं, उनके बारे में एक शंका की स्थिति उत्पन्न हुई है कि वे प्रभावी ढंग से जन-आकांक्षाओं की पूर्ति

करने के लिये या उनकी कठिनाइयों या समस्याओं को दूर करने के लिए कहाँ तक और किस प्रकार से कारगर हो सकते हैं। यही कारण है कि अधिकांश तौर पर जन-जीवन मे जो चुने हुए प्रतिनिधि है, हमारी विधान सभाएँ हैं, संसद हैं, उनके सम्बन्ध मे जिस प्रकार से उत्तरदायी राय जाहिर की जानी चाहिए, लोगों के मन में उस प्रकार की भावना नही है।

इसका बहुत कुछ कारण लोगो की गलतफहमी हो सकती है, और बहुत कुछ कारण बुनियादी तौर पर अपनी जगह सही भी है। वैसे भी आज लोकमानस मे यह प्रश्न निश्चित रूप से उठ रहा है कि क्या संसदीय प्रजातन्त्र के अस्तित्व को किसी भी प्रकार का कोई संकट है अथवा नही। लोग सामान्य तौर पर यह महसूस करते हैं कि विधान सभाओं और संसद के माध्यम से, प्रजातन्त्रीय प्रक्रियाओं और प्रणालियों के माध्यम से, उनकी समस्याओं को पेश किये जाने के बावजूद, उनका उचित हल नही हो पाता है।

ऐसी स्थिति मे जहाँ एक ओर हमें समाज में अराजक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी तत्व हैं, जो प्रजातंत्र को भी खतरे मे डाल कर एक नई समस्या पैदा करना चाहते हैं। यह चुनौती बड़े रूप मे हमारे सामने है, और मैं समझता हूँ कि केवल पच्चीस वर्षों के हमारे प्रजातंत्रीय इतिहास की वजह से नही, बल्कि वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में भी, हमारे लिए उस पर विचार करना बहुत जरूरी है।

विशेष तौर पर हम जो नीतियाँ विधान सभाओं और संसद के माध्यम से स्थापित करते हैं, जब उनको कार्यान्वित करने, उनको अमली जामा पहनाने का सवाल उठता है, तब दो प्रश्न बहुत जबर्दस्त रूप में हमारे सामने आते हैं: पहला अक्षमता और दूसरा भ्रष्टाचार का। आज भारतवर्ष के जन-जीवन में इन दोनों सवालों को उछाल कर एक बहुत पेचीदा स्थिति पैदा की जा रही है। इसके पक्ष या विपक्ष मे क्या मत हैं, मैं इस विवाद में नहीं पड़ता, लेकिन संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना और उसको ज्यादा मजबूत और कारगर बनाने का प्रश्न केवल उन लोगों के लिए अहम नही है, जो जनता की ओर से चुन कर आते हैं, बल्कि स्वयं जनता के लिए सड़क पर चलने वाले साधारण

नागरिकों के लिए भी यह महत्वपूर्ण है, जिनको प्रजातंत्र में यह अधिकार प्राप्त है।

हम सैद्धान्तिक चर्चाओं में अपने आपको चाहे जितना भी लिप्त रखें, उनमें चाहे जितना भी मशगूल रहे, लेकिन अगर हम संसदीय प्रजातंत्र के माध्यम से, विधान सभाओं और ससद के माध्यम से, ठीक ढंग से इसका कोई उपाय नही निकाल पाते है, तो बावजूद हमारी तमाम सदेच्छाओं और शुभकामनाओं के, बावजूद हमारी सदाशयता के, उस खतरे को उत्पन्न करने या लाने के लिए हम सब गुनाहगार होंगे और इतिहास हमे माफ नही करेगा। हमारे सामने यह चुनौती बहुत बडे रूप मे है।

इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि लेजिस्लेचर का, चाहे वह पार्लियामेंट के स्तर का हो और चाहे विधान सभाओं के स्तर का, नीतियों के निर्धारण, उनके कार्यान्वयन और प्रशासन पर प्रत्यक्ष और प्रभावी असर होना चाहिए। इसके क्या तरीके हो सकते हैं, इस पर विचार किया जाना चाहिए।

जैसा कि श्री हीरेन मुकर्जी ने आज सुबह कहा है, विधान सभाओं या संसद मे केवल टकराव का कनफ्रंटेशन की ही स्थिति पैदा करते रहने, या परस्पर पक्षगत वाग्युद्ध में लगे रहने मात्र से हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नही हो जाती है। ठीक है, ऐसी स्थिति होती है, जहाँ सिद्धान्त होते हैं। सिद्धान्तों का ध्रुवीकरण होता है, और उसके अन्तर्गत जहाँ दलगत राजनीति के आधार पर प्रजातंत्र का विकास और उन्नयन होता है, वहाँ मतभेद होते हैं और विभिन्न मतों का समर्थन या विरोध होता है। उसको अस्वीकार नही किया जा सकता है, उसको हटाया नही जा सकता है।

लेकिन अगर विधान सभाओं या ससद मे लोग केवल अपने वाक्-कौशल के द्वारा एक दूसरे के पक्ष मे आरोप और प्रत्यारोप ही करते रहे, तो आज की जनता उससे संतुष्ट नही होगी। उसको इस बात से कोई सतोष नही होगा कि हमने दूसरे पक्ष की क्या निन्दा की है और किस प्रकार उसको उधेड कर रख दिया है, या दूसरे पक्ष ने किस प्रकार से हमारी निन्दा या भर्त्सना की है। आज अपने जीवन से सम्बन्धित ऐसे बहुत से प्रश्न है, जिनको वह अधिक दिन तक टाल नहीं सकती है।

जब लोग महसूस करते हैं कि कानूनी और प्रजातांत्रिक तरीके से सब

प्रकार की पहल करने के बावजूद उनके प्रश्नो का उत्तर नही मिलता है, उनकी समस्याओं का हल नही मिलता है, तो अनेकों बार वे मजबूरी में गैर संवैधानिक या हिंसात्मक कार्यवाहियो पर उतारू होते हैं। इसलिए जो हिंसा या अशान्ति की घटनायें होती हैं, उसके लिए केवल यह दोषारोपण करके कि कुछ तत्व हिंसा पर आमादा हैं, हम अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नही होते हैं।

संसद के सम्बन्ध मे मैं कुछ नहीं कहना चाहूँगा। हमारे बहुत से विद्वान मित्रों ने, जो पार्लियामेंट के मेम्बर हैं, बहुत अच्छे ढंग से संसद की परम्पराओं और समस्याओं पर, और उसकी प्रक्रियाओं में क्या सुधार हो सकते हैं, उस पर अपनी राय दी है। हां, विधान सभा का सदस्य होने के नाते मुझे निश्चित रूप से यह महसूस होता है कि जनता की आकांक्षाओ की अभिव्यक्ति, और प्रजातंत्र को ज्यादा ताकतवर बनाने की दिशा में अभी विधान सभाओं में बहुत कुछ कार्यवाही की आवश्यकता है। वहाँ कई बार महज खानापूरी होकर रह जाती है। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि प्रजातंत्र के अन्तर्गत हमारी विधान सभाओं को कार्यवाही परम्पराओ, चर्चा, विचार-विमर्श और परामर्श के माध्यम से ही चलाई जा सकती है। लेकिन अगर हम इन पच्चीस वर्षों का लेखा-जोखा करें, तो क्या हम महसूस करते हैं कि हमारी विधान-सभाओ मे जो नियमानुकूल प्रक्रियाएं हैं, क्या हम उनका भी सही तौर पर पालन करते हैं। मैं उदाहरण देना चाहता हूं कि मुझे ऐसा नहीं लगता कि राज्य विधान सभाओं मे विभिन्न विभागो की मांगों पर बराबर चर्चा हो पाती हो।

एक मंत्री के पास दस-दस विभाग होते हैं, बहुत से विषय होते हैं, अहम मसले होते हैं। क्षेत्रों की समस्याओ की बात छोड़ दीजिए, लोग अपने क्षेत्रों में क्या विकास चाहते हैं, इसको छोड़ दीजिए, लेकिन इन विभागों की कुछ मौलिक समस्यायें होती हैं, जिन पर चर्चा होना बहुत आवश्यक होता है और उन दस-दस विभागों के लिए केवल तीन-चार घन्टे का समय मुकर्रर किया जाता है। इन तीन चार घन्टों में एक घन्टे का समय शासन के लिये होता है, बाकी समय मे विभिन्न पार्टियाँ होती हैं। अब किसी वक्ता को पाँच या दस मिनट में उन मांगों के संबंध में अपने विचार जाहिर करने के लिए कहा

जाय, तो यह बिलकुल असम्भव होता है। अगर हम अपने प्रजातंत्र को ताकतवर बनाना चाहते हैं, अपनी संवैधानिक स्थिति को मजबूत बनाना चाहते हैं तो उसका यह तरीका कभी नहीं हो सकता।

हमने देखा है कि राज्यों में बहुत से विभागों की मांगें तो बिना किसी चर्चा के ही गिलोटिन हो जाती हैं। ऐसा क्यों होना चाहिए? जब लेजिस्लेटर्स जनता के द्वारा दी गई निधि से वेतन पाते हैं, समय देते हैं, तो मेरा यह निश्चित मत है कि अधिक से अधिक समय तक विधान सभाओं की बैठकें होती रहनी चाहिए और कम से कम ८० दिन की सिटिंग्स तो साल में होनी ही चाहिए, बल्कि मेरी राय में तो इससे ज्यादा समय होनी चाहिए और जिस समय विधान सभाओं की बैठकें नहीं होती हैं, उस समय कमेटियों की बैठकें होनी चाहिए। कमेटियों की बैठकों का स्वरूप आज की वर्तमान परिस्थितियों में, बदले हुए सन्दर्भ में, बदलना चाहिए। औपचारिक बैठकों से काम नहीं चलेगा।

विभिन्न विभागों की परामर्शदात्री समितियां होती हैं, उनमें क्या होता है? मिनिस्टर उसके अध्यक्ष होते हैं, वैसे अध्यक्ष नाम की कोई चीज नहीं है। मंत्री महोदय अपने परामर्श के लिए आठ-दस विधायकों की कमेटी बना लेते हैं। पार्लियामेंट में भी इसी प्रकार से होता है। साल में एक या दो मीटिंग होती है। उनमें विभिन्न सब्जेक्ट्स होते हैं, सामान्य चर्चायें होती हैं और उन सामान्य चर्चाओं के आधार पर यह भी आवश्यक नहीं होता कि उनको कार्यरूप में परिणित किया जाय। मैं समझता हूँ कि इसके स्वरूप को बदलना चाहिए। स्थायी समितियां या परामर्शदात्री समिति सरकार की न होकर विधान सभाओं की बननी चाहिए। ये परामर्शदात्री समिति जितने भी महत्वपूर्ण विभाग हैं उनकी अलग-अलग बननी चाहिए और उनमें मिनिस्टर एक मेम्बर की हैसियत से आये। उसका सभापति विधान सभा का जो वरिष्ठ सदस्य हो या जिसको अनुभव हो, उसको बनाया जाना चाहिए और उसकी मीटिंग कम से कम महीने में एक बार हो और जितने महत्वपूर्ण विषय हैं, वे विषय उसमें अवश्य आने चाहिए।

चूंकि आज हम अपने पिछले कार्य-कलापों का सिंहावलोकन कर रहे हैं तो अक्सर यह भी अनुभव होता है—मैं सभी विधान सभाओं के बारे में नहीं

कह सकता, लेकिन जिनकी मुझे जानकारी है, मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ—बहुत से निगम हैं, ऐसी संस्थाएँ हैं, जैसे सतर्कता आयोग, लोकसेवा आयोग, जन उपक्रम हैं, इस प्रकार की अनेकों महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं, जिनके बजट हम विधान सभा में पारित करते हैं, लेकिन ऐसे बहुत से मौके आते हैं कि या तो उन पर बहुत ही सरसरी तरीके से चर्चा होती है, आधा घण्टे, एक या दो घण्टे की चर्चा हो जाती है या वर्षों गुजर जाते हैं, कभी कोई चर्चा का मौका ही नहीं आता है। राज्यों में जो लोक सेवा आयोग होते हैं अक्सर वे बहुत सी अनियमितताओं की शिकार होती हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि वे जन चर्चा की शिकार होती हैं, अखबारों में उनकी चर्चा होती है, लेकिन जिन्हें उनके सम्बन्ध मे कार्यवाही करनी है, उनके सामने कभी उनकी चर्चा ही नही होती है। इसलिये मेरा निवेदन है कि हमें अपने नियमों में परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन इस प्रकार से करना चाहिये कि उन पर चर्चा हो सके और वह चर्चा केवल चर्चा मात्र ही न हो, बल्कि चर्चा से कुछ निष्कर्ष निकले, कुछ निर्देश हो, जिनके आधार पर आगे की कार्यवाही की जा सके।

एक महत्वपूर्ण मुद्दा यह भी है कि जो सूचनाएँ या पेपर्स यहाँ से मिलते हैं, उनको देखने और पढ़ने का मुझे मौका मिला है। आज हमारे सामने एक बड़ा भारी मसला यह है कि प्रशासकीय एवं संसदीय विधान मण्डलियाँ दो पक्ष होते हैं। दरअसल औपचारिक रूप से शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि प्रशासन पर विधायकों का या विधान सभाओं का अंकुश होता है, लेकिन व्यवहार में और अनुभव में यह आता है कि बात बिलकुल दूसरी होती है। जो प्रशासक होते हैं, वे प्रशासन—आज जो वस्तुस्थिति है उसके अनुसार—नीति निर्धारण का भी काम करते हैं। बहुत से स्थानों पर स्थिति यह है कि वे नीति बनाकर, निर्धारण करके, सामने रख देते हैं, गवर्नमेंट उसको 'हाँ' कर देती है और विधान सभा में उनकी पुष्टि हो जाती है, लेकिन उन पर कार्यवाही नहीं होती है। मैं आज यह सवाल उठाना चाहता हूँ—विधान सभा के सदस्यों या संसद के सदस्यों का प्रशासन मे जो वास्तविक भागीदारी होना चाहिये, उनका कहीं भी किसी प्रकार कोई स्थान नहीं है। हम नीति बनाते हैं, योजनाएँ बनाते हैं, बहुत सी बातें होती हैं, लेकिन जब होल मे देखने जाते हैं तो कहीं भी किसी प्रकार का कोई भागीदारी विधान सभा के सदस्यों का या संसद के सदस्यों का नहीं होता। यह ठीक है कि जिलों में परामर्शदात्री

समिति होती है। मैं दूसरे राज्यों के बारे में नही कह सकता, लेकिन मुझे अपने राज्य का अनुभव है। जिला सलाहकार समितियाँ होती हैं, लेकिन ये कमेटियाँ बिलकुल सलाह देने भर की होती हैं। कुछ राज्यों में कलेक्टर व कही अशासकीय व्यक्ति उनका सभापतित्व करते हैं। लेकिन इनके सभापतित्व करने से कुछ भी अन्तर नहीं पडता है। कहाँ किस प्रकार की कार्यवाही होना चाहिये—कोई अन्तर नही पडता है। इसलिये मेरा ऐसा निश्चित मत है कि अब ऐसी स्थिति आनी चाहिए, इस पर चिन्तन किया जाना चाहिये, कि जो नीति का कार्यान्वयन होता है, उसमें संसद के सदस्यों और विधान सभा के सदस्यों का भी हिस्सा होना चाहिये। उनका हिस्सा किस प्रकार से होगा, इसका निश्चित स्वरूप निर्धारण किया जाना चाहिये।

प्रान्तों के सिलसिले में भी कुछ थोडी सी बातें मैं जरूर निवेदन करना चाहता हूँ—सबसे पहले तो अधिकार और प्राथमिकता के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ। बहुत से ऐसे कार्य रखे गये हैं जो राज्य के विषय हैं, जैसे लोक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जो जनसेवा के कार्य हैं। लेकिन जहाँ तक आय करने का सवाल है, इन दिनों हमने यह अनुभव किया है कि प्रदेशों के समक्ष कोई विशेष ज्यादा मुद्दे राजस्व अर्जित करने के नही रह जाते हैं, केवल भूमि राजस्व गाँव से सम्बन्धित मुद्दे होते हैं, जिनको बार-बार दोहन करके वसूल कर सकते हैं। लेकिन उसको भी केन्द्र ने अपने जिम्मे ले लिया है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि इस पर विचार किया जाना चाहिये। बल्कि होना तो यह चाहिये कि शिक्षा और लोक स्वास्थ्य जैसे विषय पर फिर से पुनर्विचार किया जाना चाहिये। आज पूरे देश में इन मामलों में तरह-तरह की व्यवस्थाएँ चल रही हैं। मैं चाहता हूँ कि पूरे देश भर में एक तरह की व्यवस्था बने और केन्द्र इनको अपने जिम्मे लेकर कुछ ऐसी योजना खासकर सिंचाई और ऊर्जा से सम्बन्धित मामलों को—जहाँ अन्तर्राज्यीय विवाद हैं, वहाँ की बात मैं नहीं कहना चाहता हूँ, उनको केन्द्र अपने जिम्मे ले, लेकिन जितनी सिंचाई की वृहद् योजनायें हैं वे सारी की सारी केन्द्र मन्जूर करे और प्रान्त वाले उनके समक्ष सिफारिश करते रहें और बार-बार इधर से उधर चक्कर लगाते रहें, यह ठीक नहीं है—इनकी जिम्मेदारी प्रान्तों पर छोड़ी जानी चाहिये।

एक बात मैं क्षेत्रीय सन्तुलन के बारे में कहना चाहता हूँ। क्षेत्रीय सन्तुलन के बारे में तुरन्त विचार किया जाना चाहिये और प्रदेशों के पिछड़ेपन को दृष्टि

में रखते हुए उनकी आवश्यकता के आधार पर उनकी सहायता की जानी चाहिये। किसी भी राज्य का पिछड़ापन उसकी आबादी और उसके क्षेत्रफल को ध्यान में रखते हुए निश्चित किया जाना चाहिये तथा उसमें प्राथमिकता निश्चित की जानी चाहिये। मान लीजिये आप केरल को १०० मील लम्बी सड़क देते हैं और मध्यप्रदेश को २५० मील देते हैं तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। केरल में तो छोटा प्रदेश होने के कारण १०० मील लम्बी सड़क से उसके आरपार हो जायगी, लेकिन मध्यप्रदेश में २५० मील लम्बी सड़क से उसके मुख्यालय भी जुड़ नहीं पायेंगे। इसलिये हर प्रदेश की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए उनको प्राथमिकता निर्धारित होनी चाहिये। साथ ही साथ हमें ऐसा माध्यम निकालना चाहिये जिससे हम जनता की शिकायतों और अड़चनों को विधान सभा के माध्यम से दूर कर सकें।

• •